

३३९

~~स्नातक~~

६६६६

भालोचनात्मक

निबन्ध ^{१२.१.६५}

६५२५

मिश्र

आलोचनात्मक-निबन्ध

[राजस्थान विश्वविद्यालय बी. ए. सा. परीक्षा के
तृतीय वर्ष के लिए स्थापित]

३३२
शास्त्र

१५
१५

सम्पादक

डॉ० रामचन्द्र मिश्र

क. ए. ए. ए. ए.

रीडा भाग्य विद्यापीठान्तर्गत भाग्यपुर

मुद्रक—दी एज्युकेशनल प्रेस, सिटी स्टेशन रोड, आगरा-२२२००१
पुस्तक का मूल्य—चार रुपये पच्चीस पैसे मात्र



आभार प्रदर्शन

जिन विद्वानों के निबन्ध इस संग्रह में प्रस्तुत हैं, उनके प्रति
प्रकाशक अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं ।
व्यतिरिक्त पाठ में अनजाने कभी कोई भेद
नमाप्रार्थी है

७७७६
२२-१-७५

आवकथन • • •

३३२
साहित्य

प्रत्येक सग्रहकर्ता और सम्पादक की रुचि भिन्न होती है अतएव ग्रहों में विभिन्नता का होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत सग्रह में यह ध्यान रखा गया है कि सम्भवतः हिन्दी आलोचना के विभिन्न युगों का क्रमिक इतिहास और स्वरूप पाठकों के सामने रखा जाय। ऐसा करने से छात्रों में आलोचना के महत्त्व, उसके सिद्धान्त और उसके विकास का चित्र स्पष्ट हो सकेगा। स्नातक होने के पश्चात् स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए वे कटिबद्ध होंगे तो उनका आलोचना-विषय-ज्ञान, मौखिक विषयक सिद्धान्तों और प्रयोगों के विस्तार के समझने में सहायक होगा।

यदि प्रस्तुत सग्रह द्वारा उपरोक्त सध्य की कुछ भी पूर्ति हो सकी तो सग्रहकर्ता अपने परिश्रम को सफल समझेगा।

सम्पादक

३३२

साहित्य

निबन्ध-सूची

७७७६

२२.१ ७५

भूमिका	१-२०
१. कवि-शिक्षा : क्षेमेन्द्र-कृत कथाभरण	
—आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी	२१-२७
२. भारतीय साहित्य की विशेषताएँ	
—डॉ० श्यामसुन्दर दास	२८-४२
३. छायावाद	
—जयशंकर 'प्रसाद'	४३-४६
४. साहित्य के मूल्य	
—डॉ० गुलाबराय	४७-५५
५. शुक्लजी और छायावाद	
—डॉ० देवराज	५६-६६
६. नया साहित्यिक दृष्टिकोण	
—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी	६७-७२
७. नयी कविता : नया संतुलन	
—डॉ० जगदीश गुप्त	७३-८०
८. नयी कविता का सामाजिक परिवेश	
—डॉ० जयशंकर	८१-८७
९. नयी काव्य-संरचना की मनोवैज्ञानिक दृष्टिभूमि	
—समीरानन्द वर्मा	८८-१०४
१०. कामायनी	
—जन्दनारे बाबोदी	१०५-११६

११. कला कला के लिए
—डॉ० सोमनाथ गुप्त ११७-१२०
१२. राजस्थानी साहित्य में शौर्य-श्रुति और उसका
मनोप्रेक्षान्तिक आधार
—डॉ० कन्हैयालाल गहलवाल १२५-१२८
१३. पाँचवें बराक की कविता
—डॉ० नामवर सिंह १३५-१३९
१४. शंकराचार्य के दुःखान्त नाटक : नैतिक मूल्यों की समस्या
—डॉ० रामविलास शर्मा १४२-१७२

आलोचना का महत्त्व

आलोचना शब्द संस्कृत तत्सम शब्द है जो लुच् (देखना) धातु से बना है। इस धातु से 'लोचन' (देखने वाला या नेत्र) शब्द की व्युत्पत्ति हुनी है। 'लोचन' के पूर्व 'आ' शब्द लगना है जिससे 'लु' का लोप हो जाने से 'आलोचना' शब्द बनता है। इसके ध्वं से 'लम्' उपसर्ग और अन्त में 'टाप्' प्रत्यय के बरने से 'समालोचना' बनता है। अन्तर्गत समालोचना का अर्थ हुआ 'सब प्रकार से विधिपूर्वक किसी वस्तु के देखने की व्यवस्था।'।

अन्तर्गत साहित्यिक समालोचना का अभिप्राय है 'साहित्य की सम्यक् प्रकार से देखने की एक विशेष व्यवस्था या विधि'।

साहित्य की आलोचना करने के लिए साहित्य क्या है ? साहित्यक क्या है ? प्रदेष्ट का लक्षण किस प्रकार होना है ? प्रदेष्ट साहित्यक के लक्षण क्या है ? साहित्य से लुप् और लोच क्या होते हैं ? साहित्य के लक्ष से क्या अभिप्राय है ? आदि-आदि प्रश्नों के उत्तर की जानकारी आवश्यक है। जब तक किसी वस्तु के बाह्य एवं आन्तरिक प्रकृति और स्वभाव का पूर्ण ज्ञान न हो जब तक तक उसको आलोचना बंसे हो सकती है ? बिना जानकारी होना हो तो व्यर्थ ही रहेगा है। लुप्-लोच का विवेचन करने के उपरान्त उसके 'लुप्'-'लुप्' का निन्द करने की दृष्टि भी तो आवश्यक है। किन्तु किसी निन्द के आलोचना का प्रयोजन हो क्या ? लुप्के आलोचक केवल निन्दक ही होते हैं-लुप् निन्दक की होना है।

साहित्यिक कृति पर एकाएक निर्णय दे देना सुगम नहीं है। इसके लिए आलोचक को आलोच्य विषय के ज्ञान के साथ-ही-साथ निष्पक्ष, सत्यव्रता, विशाल हृदयी, सहानुभूति पूर्ण तर्कशक्ति सम्पन्न, विवेक-शक्तियुक्त और प्रतिभावान्प्रुक्त भी होना चाहिए। इसलिए आवश्यक है कि वह नीर-शीर-विवेचक हो, छिद्रान्वेषण की भावना से रहित हो, दोषों को प्रकट करने वाला और गुणों की सराहना करने वाला हो, सुसूचित और भावुकता से पूर्ण हो और साहित्य के सभी स्वरूपों—काव्य-शास्त्र आदि का ज्ञाता हो।

आलोचना की कई भागों में बाँटा जा सकता है—

१. वह आलोचना जिसका उद्देश्य किसी कृति का केवल गुण-दोष-प्रयत्नकरण हो। आलोचक केवल दोनों का विश्लेषण कर देता है।

२. वह आलोचना जिसका लक्ष्य आलोच्य वस्तु या उसके वर्णन की व्याख्या मात्र करना हो। ऐसी आलोचना में रचना की समस्त जटिल एवं मार्मिक गुणधर्मों की केवल व्याख्या कर दी जाती है। दुर्बोध को सुबोध बना दिया जाता है।

३. वह आलोचना जिसका उद्देश्य रचना का मूल्यांकन करना हो। ऐसी आलोचना में आलोचक गुण-दोष का विवेचन भी करता है। जटिल अंशों की आवश्यकतानुसार व्याख्या भी करता है और इन दोनों के आधार पर अपना निर्णय भी देता है। यह निर्णय ही रचना का मूल्यांकन है जिसकी कसौटी विषय सम्बन्धी शास्त्रीय लक्षण हैं। कभी-कभी अन्य लेखकों की रचनाओं से तुलना कर वह तुलनात्मक आलोचना सामने प्रस्तुत करता है और बताता है कि कौन सा लेखक अन्य लेखकों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है। ऐसा करने से ही वह किसी लेखक का साहित्य में स्थान निर्धारित करने में समर्थ हो सकता है। आलोचना के साथ-साथ यह साहित्य की युगकालीन आवश्यकता पर भी प्रकाश

झलना चलता है और इसी प्रकार अपनी आलोचना से पाठकों का पय-प्रदर्शक बन जाता है ।

आलोचना ऐतिहासिक (Historical criticism) शास्त्रीय (नियमों के अनुकूल) और कठिणत नियमों के अनुकूल भी हो सकती है तथा प्रभाववादी (Impressionistic) भी । आलोचना की शैली वैज्ञानिक होनी चाहिए ।

समालोचना की आवश्यकता

मानव प्रगतिशील है । वह निरन्तर बढ़ना चाहता है । आगे बढ़ने का अभिप्राय है वर्तमान के स्तर से ऊपर उठना । इस उन्नति के दो मूल मंत्र हैं—वर्तमान के अभावों का विनाश और भविष्य के पूर्णत्व विधान का निर्माण । यह सभी सम्भव है जब पहले कृतियों की पहचाना जाय और फिर उन्हें दूर किया जाय । अहं भाव से काम नहीं चल सकता । अव्यक्तिक दृष्टिकोण और सदस्यता की भावना ही प्रगति की ओर ले जाने वाली है । चाहे व्यक्ति का विरलेपण हो, चाहे समाज का और चाहे किसी युग का—सभी में उपरोक्त भाव-दृष्टि आवश्यक है ।

साहित्य समाज का दर्पण है । वह किसी युग की विचारधारा का प्रतिबिम्ब है । मानवता के विकास में इतिहास का मुरझित बिम्बरोप है । उसमें मानवी वृत्तियों के 'सु' और 'दु' सभी तिथिबद्ध रहने हैं । उसका क्षेत्र जीवन का बहुकपात्मक स्वरूप है । वह हमारे मर्म को छूता है, हमारे भस्तिष्क को उत्तेजना प्रदान करता है और आत्मा को उदात्त बनाता है । त्रिग साहित्य का महत्त्व इतना अधिक हो, त्रिग साहित्य का उत्तरदायित्व इतना गंभीर हो, उसके स्वरूप की आलोचना अशक्य-भावी है ।

साहित्य आनन्दप्रद है। उसका आनन्द 'ब्रह्म-सहोदर' आनन्द माना गया है। वह रसमय है और आस्वादन-योग्य है। वह अतीत के चित्रों को अंकित करता है, वर्तमान का चित्रांकन करता है और भविष्य का निर्माता है। ऐसे साहित्य को दोष रहित रखना युग का धर्म है और इसके लिए सत्य आलोचना की आवश्यकता है।

साहित्यकार अपने युग को परिधि में ही बन्दी नहीं रहता। उसकी कल्पना, उसकी अनुमति और उसकी मायुकता यथार्थ को आदर्श बनाने में संलग्न रहती है। ऐसे साहित्यकार के चित्र अतिरंजित न होकर जीवन पर स्वास्थ्यप्रद प्रभाव डालें इसलिए साहित्यकार की आलोचना भी आवश्यक है।

साहित्य चरित्र-सुधारक है, वह विचार का परिष्कार करने वाला है, संस्कृति का मापदंड है, वह व्याकुल जनता में संतोष का संचार करने वाला है, आर्थिक असंतुलन की विषम परिस्थितियों में राजनीतिक आदर्शों की विभिन्नताओं के रहते हुए भी, मानवता की प्रतिष्ठा करने वाला है। साहित्य मानव को मानव भी रखता है और उसे देवता भी बनाता है। वह वेदना, हास्य, रति, शोध आदि सभी वृत्तियों का घटुर् संप्रहर्ता है। जिस साहित्य का हमारे जीवन से इतना गहरा नाता है उसकी आलोचना, उसके सत्यासत्य का निर्णय परम आवश्यक है।

कलाकार की कला इसमें है कि वह कला को छिपाकर एक संवेत मात्र दे दे और आलोचक का कार्य है कि छिपी हुई कला को स्पष्ट कर दे।

भारतीय विद्वानों ने साहित्य की रचना की। जिसमें कम अक्षर हों, जिसका अर्थ स्पष्ट, गंभीर तथा व्यापक हो, वह 'सूत्र' कहलाया। उन्होंने आलोचना का भी निर्माण किया। जिसमें सूत्रों का सारांश वर्णित हो, वह धृति कहलाई। सूत्र और धृति के विवेचन (परीक्षा) को 'पद्धति' की संज्ञा दी गई। इनमें बड़े हुए सिद्धान्तों पर आलोचन करके फिर उदाहरण

समाधान कर, उन गिहान्तो का विवरण 'भाव्य' कहलाया। भाव्य के धीरे-धीरे प्रकृत विषय को छोड़कर दूसरे विषय का जो विचार दिया गया उसे समीक्षा कहा गया। इस शब्द में जितने अर्थ सूचित हैं, उन सबका व्यापकत्व 'टीका' (उल्लेख) जितना हो, उसे 'टीका' कहा गया। और इसी प्रकार 'पत्रिका', 'कारिका' और यांत्रिक आदि भी बने।

भारतीय आलोचना का उपरोक्त स्वरूप बड़ा व्यक्तक और गुण था। अनेक भाषाओं में रचनेवाले ग्रन्थ न लिख कर उन पर उपरोक्त प्रकार की किसी आलोचना को लिखकर अपने को ग्रन्थ समझा। भाषाएं अभिनव गुप्त भरतमुनि के 'नाट्यशास्त्र' एवं 'दण्ड्यालोक' के अग्रगण्य आलोचक थे। उनके 'नाट्यपेक्ष विवृति' और 'लोचन' के अभाव में उक्त ग्रन्थों के अनेक जटिल स्थल अस्पष्ट ही रह जाते।

हिन्दी के आरम्भिक काल में आलोचना अधिक नहीं बनती। रीति-काल के ग्रन्थों में जो आलोचना का रूप है, वह विवरणात्मक ही कहा जा सकता है, विवेचनात्मक नहीं। रस के तत्वों का उल्लेख और फिर उनका उदाहरण, असकारो के लक्षणों का उल्लेख और फिर उनका उदाहरण, यही उनका धर्म है। नायक-नायिका-भेद भी इसी आधार पर वर्णित है। यद्यपि इस प्रसंग में लेखक की मनोविज्ञान सम्बन्धी सूक्ष्म अन्वेषण शक्ति का परिचय प्राप्त होता है परन्तु उनके पास व्याख्यात्मक प्रणाली का अभाव था। यहाँ तक कि मिथारीदास जैसे व्यक्ति ने भी अपने 'काव्य निर्णय' में प्राचीन परम्परा का ही अनुसरण किया है। यथास्थान जो टिप्पणियाँ उन्होंने की हैं वे सब बहुत ही कम हैं।

आलोचना का वर्तमान रूप अंगरेजी साहित्य के सम्पर्क से आया है। उपन्यास और निबन्ध जैसे नवीन साहित्यिकों के विकास और उनके लक्ष्यों पर पश्चिमीय आलोचना शास्त्र का सर्वांगीण प्रभाव है। परन्तु अन्य साहित्यिकों का विकास स्वतंत्र रूप से आ रहा है। यदा-कदा जो

मिश्रण भारतीय एवं पश्चिमीय दृष्टिकोण का मिल जाता है, उसका कारण केवल परस्पर का परिचय और आदान-प्रदान है ।

हिन्दी-आलोचना का विकास

आधुनिक हिन्दी-आलोचना अपेक्षाकृत नई है । निरसदेह इसका मूल स्रोत संस्कृत के काव्य-शास्त्र ही हैं परन्तु पश्चिमीय दृष्टिकोण ने भी आलोचना के विकास में बड़ा योग दिया है ।

हिन्दी-आलोचना का प्रथम रूप वह है जो भक्त-मालों और पार्ताओं में संकलित भक्त कवियों के विषय में फुटकर उल्लेखों के रूप में मिलता है । उदाहरण के लिए इस दोहे को ले लीजिए—

सत्य सत्य गूरा कही, तुलसी कही अनूठी ।

बची शुची कबिरा कही, और कही सब शूठी ॥

इस प्रकार की समीक्षा श्रुतियों के रूप में प्रचलित थी ।

रीतिकाल में आलोचना के दो रूप विद्यमान हुए—संस्कृत के काव्य-शास्त्रों के आधार पर रचित रीतिपंथ और सिद्धान्तों या परिभाषाओं के रूप में दिए गए उदाहरण । सिद्धान्तों में संस्कृत के अलंकार और रस सम्प्रदायों की मान्यता अधिक रही । जैसे यदि केशव का शृङ्गार अलंकार समीक्षा की ओर था तो देव, मानेराय और बेनीप्रबोध रस सम्प्रदाय के अनुयायी थे और सेनापति, बिनायाजी आदि 'रस रत्नि' में अधिक आस्था रखते थे । रीतिकाल में टीकाओं के रूप में भी आलोचना का विकास हुआ था । सरदार कवि का 'मानस रत्न' ॥ पद्मिनी का भण्डा उदाहरण है ।

परन्तु आधुनिक आलोचना का उद्भव भारतेन्दु काल से ही हुआ

... । भारतेन्दु की कविचरन मृदा (मन् १८६८) और

... 'रत्नि' (१८७३) में जो विवरण पुस्तकों के विषय में प्रका-

शित होते थे, वे ही उस युग की समालोचना के उदाहरण थे । भारतेन्दु के समकालीन पत्रकारों ने इसी पद्धति को अपनाया था । 'प्रेमघन' और धातकृष्ण भट्ट ने अवश्य एक बार साता थोनिवासदास के 'सयोगिता स्वयंवर' नाटक के गुण-दोषों की आलोचना अपने-अपने पत्र में उन दिनों भी की थी । सन् १८८५ में महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी 'हिन्दोत्थान' में 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' शीर्षक से गुण-दोष दर्शन प्रदर्शित करने वाला एक निबन्ध लिखा था ।

आलोचना का ज्ञानिकारी युग काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रकाशन (१८६७) के साथ आरम्भ हुआ । उसमें अनुसंधानपरक गम्भीर निबन्ध या लेख प्रकाशित हुए । आरम्भिक वर्ष में ही श्री गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का 'समालोचना' शीर्षक निबन्ध निकला जो समालोचना सिद्धान्त सम्बन्धी था । उसी वर्ष डा० जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'समालोचनादर्श' पुस्तक प्रकाशित की । यह कृति अंगरेजी बयि 'पोप' के Essay On Criticism का पद्यात्मक अनुवाद था । इसी प्रकार की एक अन्य पुस्तक 'गद्य-काव्य भोमाता' थी जिसके लेखक अम्बिकादत्त व्यास थे । व्यास जी का जन्म-स्थान जयपुर ही था परन्तु वह काशी में जा बसे थे ।

सन् १९०० में सरस्वती के प्रकाशन के साथ हिन्दी-आलोचना-जगत में एक नया मोड़ आया । इन दिनों बीसवीं सदी में आलोचना के कई प्रकार दिखाई देते हैं—

१. समालोचना सिद्धान्त सम्बन्धी निबन्ध और पुस्तकें ।
२. तुलनात्मक आलोचना—यथा पद्मसिंह शर्मा का बिहारी सनसई भाष्य, कृष्णबिहारी मिश्र की 'देव और बिहारों', सा० मगवान दोन कृत 'बिहारी और देव' आदि ।
३. साहित्य की सामान्य समीक्षा—मिश्र बन्धुओं का 'हिन्दी नव-रत्न',

इसमें अंगरेजी बिचारधारा का प्रभाव स्पष्ट है, लेखक ने बताया है कि कवि का संदेश क्या है और यह उममें कहीं तक सफल हुआ है।

४. छोज एवं अनुसंधानात्मक आलोचना—यथा गुमेरीजी की 'पुरानी हिन्दी', श्यामगुन्दर बाग का 'बीसलदेव रासो' आदि। इसी पद्धति से आगे चलकर डॉक्टरेट की पदवी के लिए छोज प्रबन्धों की परिपाटी चली।

५. ध्यादयात्मक समीक्षा—इस विधा में पं० रामचन्द्र शुक्ल का प्रयास उदात्तनीय है। 'जायसी ग्रन्थावली', 'तुलसी ग्रन्थावली' और 'गूरदास' पुस्तकों की विस्तृत भूमिकाएँ ध्यादयात्मक प्रणाली की ही आलोचना है। बाबू श्यामगुन्दर बाग ने भी इस विधा में प्रयास किया है।

६. स्वच्छन्दतावादी आलोचना

कवि की आन्तरिक संवेदना की ओर इस आलोचना का लक्ष्य रहता है। ये आलोचक लेखक के अन्तर्गत में प्रवेश कर मार्मिक सौन्दर्य का उद्घाटन करना चाहते हैं। उनका ध्यान लेखक की वस्तु-संकलन, चरित्र-चित्रण, कल्पना, भावामिष्यक्ति एवं ध्यन्यात्मकता (Suggestion) की ओर रहता है। इसका शुरुवात तो वास्तव में प्रसाद, पंत, गिराला और महादेवी की उन भूमिकाओं से ही हुआ जिनमें उन्होंने अपनी भावामिष्यक्ति का उन्मेषण किया है। बाद में नन्ददुलारे बाजपेयी इस धारा के एक अप्रगण्य लेखक बने। 'कामायनी' की आलोचना इस दृष्टि से दृष्टव्य है।

७. मनोविश्लेषणात्मक समालोचना

यह धारा पश्चिम से आई है। फ्रायड और एडलर इसके मूल उन्नायक थे। फ्रायड का मत है कि मानव की अनेक वासनाएँ कुछ प्रतिबन्धों—धार्मिक, नैतिक, सामाजिक—के कारण अन्तर्मन में दबी रह जाती हैं।

॥ इसी हुई वागनामें उपचेतन मस्तक में गूँघर धारण श्रेष्ठ में माने तथा अभिव्यक्त होने के लिए निम्न प्रयत्नशील होती रहती हैं। इन इमिन वागनाओं की अभिव्यक्ति कला और शक्ति में एक सुन्दरतम रूप में होने की सम्भावना रहती है। कारण यह है कि इनमें इनका उदासी-करण (Sublimation) हो जाता है। उपचेतन मस्तक की शक्तियों का प्रभाव धान्य के व्यक्तित्व-निर्माण पर पड़ता है। इस तत्व की छोन होने पर इसका समर्थन मनोविज्ञान के पंडितों ने वाय्व और कला के आधार पर समीक्षा-श्रेष्ठ में भी आरम्भ किया और यही समीक्षा 'मनो-विवेचनात्मक समीक्षा' कहलाई। पं० इत्यादि जोशी और अज्ञेय ने इस और पर्याप्त प्रगति की है। डा० देवराज उपध्याय का शोध प्रबन्ध इसी आधार पर प्रस्तुत किया गया है।

८. मार्क्सवादी आधार पर आधित आलोचना

आलोचना के क्षेत्र में यह मोड़ सबसे अधिक गया है। इसका आधार मार्क्स का जीवन-दर्शन है। इस दर्शन का नाम 'द्वन्द्वारमक भौतिकवाद' है। इसका उद्देश्य द्वन्द्वारमक प्रणाली के आधार पर जगत के वास्तविक तत्व का अनुसंधान करना है। इस प्रणाली के तर्क की यह विशेषता है कि यह यह मानकर चलती है कि जगत की प्रत्येक वस्तु में परस्पर विरोधी तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इन्हीं विरोधी तत्त्वों में द्वन्द्व चलता रहता है परन्तु एक अवस्था ऐसी भी आती है जब यह द्वन्द्व संतुलन में परिणत हो जाता है। इन दर्शन की परिभाषा में प्रत्येक वस्तु के तीन अवस्थान माने जाते हैं—प्रस्तुत अवस्थान (Thesis) विरोधी तत्त्वों से द्वन्द्व करता हुआ प्रत्यवस्थान (Antithesis) और फिर दोनों ॥ संतुलन होने वाला साम्यावस्थान (Synthesis)।

मार्क्सवादी समालोचक यह देखता है कि लेखक इस युग की किस विचारधारा का समर्थन करता है सामन्तशाही युग का लेखक सामन्त-

शाही विचारधारा का पीपक होगा और पूंजीवादी पूंजीवाद का । उसकी समझ में यतमान पूंजीवादी प्रणाली दूषित है और समाजवाद में उसका परिवर्तन होना चाहिए । तभी प्रगति संभव है ।

इस आलोचना के समर्थक डा० रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, डा० नामवर सिंह आदि हैं । कविता में इस विचारधारा के उन्नायकों में डा० जगदीश गुप्त और लक्ष्मीकान्त वर्मा हैं । उनकी विचारधारा के कुछ छोटे प्रस्तुत संग्रह में सम्मिलित हैं ।

सत्य तो यह है कि आज का जीवन हो एक संक्रान्तिकाल से गुजर रहा है । पुराने मूल्यों का अवमूल्यन और नवों की स्थापना का प्रयत्न किया जा रहा है । साहित्य में इसी की अभिव्यक्ति हो रही है । आज का समालोचक किसी एक वर्ग में नहीं रखा जा सकता । कभी वह एक प्रणाली अपनाता है और कभी दूसरी । केवल भविष्य ही यह निर्णय कर सकेगा कि कौनसी समीक्षा-पद्धति सबसे अधिक हितकर और महत्वपूर्ण है ।

निबन्ध-लेखक-परिचय

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८)

द्विवेदी जी के नाम से कौनसा हिन्दी पाठक परिचित नहीं है। जब सन् १९०० में उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन-भार संभाला तब से लगभग दो शतक तक उनका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर इतना अधिक पड़ा है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में उसका नाम ही द्विवेदी-युग पड़ गया है। हिन्दी भाषा, कविता, कहानी, आलोचना आदि पर उनका प्रभाव बड़ा ही अद्भुत और प्रशस्त था। छड़ीबोली को साहित्यिक भाषा बनाने में और उसका परिनिष्ट रूप सेवारने में द्विवेदी जी की सेवाएँ अपूर्व थीं।

द्विवेदी जी नितान्त पुरातनवादी तो नहीं थे। पश्चिम से आने वाली विचारधारा में जो अच्छा था वह तो उन्हें ग्राह्य था परन्तु नूतन में सभी अच्छा है और पुरातन सभी गला-साड़ा है। इसमें उनका विश्वास नहीं था।

प्रस्तुत निबन्ध में द्विवेदी जी में भारतीय काव्य-शास्त्र के आचार्य क्षेमेन्द्र के विचारों से अपने पाठकों को अवगत कराया है। पाठक देखें कि कवि-भक्तिष्क में आचार्य क्षेमेन्द्र की कितनी पहुँच थी और कवि-वर्म की उन्होंने कितनी गूढ़ व्याख्या की है। फिर पश्चिमी विचारधारा से उसकी तुलना कर अपने निष्कर्ष पर पहुँचे।

२. डा० श्यामसुन्दर दास (१८७५—१९४५)

डा० श्यामसुन्दर दास ने अपना जीवन स्कूल-अध्यापक के रूप में आरम्भ किया और धीरे-धीरे हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

(पारागणो) ॥ हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित हुए। बाबूजी का जीवन हिन्दी भाषा और साहित्य के लिए त्याग और उत्साह का जीवन था।

यदि सर आनन्दोप को भारतीय भाषाओं के साहित्य की वक्तव्ता विर्यविद्यालय में प्रवेश कराने का भय प्राप्त है तो क्यामगुन्दर दास जो को हिन्दू विर्यविद्यालय में हिन्दी-विभाग की स्थापना करने और उते उच्चतम स्तर तक विकसित करने का भय मिलना चाहिये। स्नातकोत्तर स्तर तक हिन्दी की शिक्षा सर्वप्रथम बनारस में ही हुई थी। यंते नागरी प्रचारिणी सभा काशी तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन आदि संस्थाओं के प्राण भी बाबूजी ही थे।

एम० ए० स्तर की पाठ्य पुस्तकों के लिखने में बाबूजी ने कड़ा प्रयत्न किया था और भाषाविज्ञान, साहित्यालोचन हिन्दी साहित्य का इतिहास आदि विभिन्न विधाओं की मानक पुस्तकों की रचना उन्होंने की थी और अपने सहयोगियों से भी कराई।

प्रस्तुत निबन्ध में बाबूजी ने भारतीय साहित्य की विशेषताएँ बताते हुए कहा है कि जातीय साहित्य में क्या होना चाहिये और हिन्दी साहित्य की क्षमता क्या है ?

३. बाबू गुलाबराय (१८८८-१९६३)

बाबू गुलाबराय उस पीढ़ी के लेखक थे जिसके सामने पड़ीबोली अपना रूप सँवार रही थी। किसी आदर्श के सामने होने पर तो सभी लिख लेते हैं और प्रायः आदर्श से भी अधिक उत्तम लिख लेते हैं परन्तु सृजन-कला के कुशल कलाकार बहुत ही कम होते हैं। बाबूजी का जीवन साहित्य की एकान्त और भूक साधना थी। प्रकृति के सरल, दिवाव से दूर, वर्तमान शिष्टाचार जिसे छू तक न गया हो ऐसे हिन्दी साहित्य के एक दृढ़ स्तम्भ थे। यद्यपि उनका

मूल विषय तर्क-शास्त्र और दर्शन या परन्तु बाद में साहित्यिक रचनाओं में ही उन्होंने अपनी दार्शनिक प्रवृत्ति को विनोद कर दिया था। इसी कारण उनका साहित्य गम्भीर और मननशील है।

साहित्य के मूल में साहित्य सृजन और साहित्य पठन-पाठन का अनु प्रधान है। साहित्य की आवश्यकता ही क्या है? साहित्य का मानव-जीवन से क्या सम्बन्ध है? हमें साहित्य क्यों पढ़ना चाहिये? आदि प्रश्न किसी जिज्ञासु के उत्तर पर कुछ विचार करने के उपरान्त द्योतित निम्नाने हैं। मोती की परछाया तो राजा कर सकता है या औहरो। अन्य अर्न्तगत पुरुष उसका भूत बसा समझेंगे। गुलाबराज जी ने पुरातन साहित्य हेतुओं के सरल दार्शनिक रूप को इस निष्कर्ष में प्रस्तुत किया है।

४. जयशंकर 'प्रसाद' (१८६०—१९३७)

बाराही के निवासी थे और ध्यस्तोदी क्षेत्र वर्ग में जन्म लिया था। परिवार सुधनी शाहू के नाम से प्रसिद्ध था। प्रसाद सम्पन्न घराने में उत्पन्न होकर भी घनादर नहीं थे। पिता के मरने पर उन्हें बहुत सा खर्च चुकाना पड़ा था।

प्रसाद की रचनाओं की सत्या दिनांश की पूर्ण आवश्यकता नहीं। वह कवि थे, नाटककार थे, उपन्यासकार थे, कहानीकार थे और निष्कर्ष लेखक भी। उनके निष्कर्ष खोजपूर्ण और सर्वजन के समर्थक विमर्श गये हैं।

साहित्यकार एक ऐसा निष्कर्ष है जिसमें प्रसाद के 'साहित्य' के सम्बन्ध में उनके सैद्धांतिक पक्ष का निरूपण किया है। 'साहित्य' शब्द का परिचालन अर्थ सर्वप्रथम उन्होंने ही अपने निष्कर्ष के विस्तार स्पष्ट किया था। उनके स्पष्टीकरण के पूर्ण 'साहित्य' एक बार भी जान लिया गया था कि-उसकी रूप-रेखा प्रसाद की।

५. डा० देवराज

मूलतः दर्शन के विद्यार्थी हैं और आजकल भी वाराणसी के विश्व-विद्यालय में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष हैं। परन्तु दर्शन शास्त्र में अन्त-र्राष्ट्रीय व्यक्तित्व रखते हुए भी उन्हें हिन्दी साहित्य रचना की लगन है।

डा० देवराज ने हिन्दी में उपन्यास, कहानी, कविता और आलोचना सभी प्रकार की विधाओं में रचना की है।

प्रस्तुत निबन्ध में डा० देवराज ने आरम्भ में ही आलोचना शक्ति के तीन अवयवों का उल्लेख किया है और उसी के आधार पर उन्होंने शुक्लजी के छायावाद विषयक मत की आलोचना की है। आरम्भ में शुक्लजी छायावादी साहित्य के प्रशंसक नहीं बरन् कट्टर विरोधी थे। कालान्तर में तत्सम्बन्धी उनके मत में पर्याप्त परिवर्तन हो गया था जैसा कि उनके हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तिम संस्करण से सिद्ध है। डा० देवराज ने समस्त परिस्थितियों के परियेश में शुक्लजी के छायावादी विचारों के कारण ढूँढ़कर अपना दृष्टिकोण प्रतिपादित किया है। उनकी तर्क-शक्ति और विश्लेषण-शक्ति अपूर्व है, उनमें सहृदयता है और वास्तविकता को पकड़ने की क्षमता है।

६. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी (जन्म सन् १८७७)

हिन्दी साहित्य के पुराने लेखक हैं। ज्योतिष के आचार्य होते हुए भी उन्होंने हिन्दी की अभूतपूर्व सेवा की है। द्विवेदी जी शांति निकेतन में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष थे। तत्पश्चात् काशी विश्वविद्यालय और पंजाब विश्वविद्यालय में क्रमशः हिन्दी के प्रोफेसर रहे।

द्विवेदी जी की मौलिक रचनाओं में 'बाणभट्ट की आत्म-कथा' तथा 'चारुचन्द्र' उपन्यास अति प्रसिद्ध हैं। वह समालोचक और निबन्ध लेखक हैं। उनके कई ललित निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रस्तुत निबन्ध उनकी आलोचनात्मक दृष्टि और गम्भीर चिन्तन धारा का परिणाम है। जिस समय प्रगतिवाद का आन्दोलन चला तो पुराने छंदों के लेखकों ने उसके सम्बन्ध में अनेक शकाएँ प्रकट कीं। कई प्रकार के स्पष्टीकरण किये गये। द्विवेदी जी ने भी अपना दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में प्रकट किया है।

७. डा० जगदीश गुप्त (जन्म सन् १९२६)

डा० जगदीश गुप्त इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में शिक्षक हैं। यद्यपि उन्होंने अपनी छोज का विषय हिन्दी और गुजराती कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन चुना था परन्तु उनकी विशेष रुचि चित्रकला और नयी कविता की ओर है। 'नयी कविता' के नाम से वह एक पत्र भी निकालते हैं।

नयी कविता विषयक आन्दोलन में उनका विशेष हाथ है। प्रस्तुत निबन्ध में उन्होंने नई कविता के विषय में उत्पन्न होने वाले कुछ एन्दों का उत्तर दिया है। पुरानी कविता में छन्दों में प्रयुक्त मात्राओं और वृत्तों से पद का समुत्पन्न होता था परन्तु नये छन्दों में 'लय' की प्राप्ति-मिश्रता ही गयी है। यह निबन्ध, जैसा डा० गुप्त ने आरम्भ में ही कहा है, द्विवेदी जी तथा पं० पद्मसिंह शर्मा के आक्षेपों का उत्तर है।

डा० गुप्त के विचार नई पीढ़ी को कहीं तक समंद है इसका निर्णय पाठक स्वयं करें।

८. डा० रघुवंश (जन्म सन् १९२१)

आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक हैं। अदम्य साहसी युवक हैं और यदा-कदा पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख छपते रहते हैं। यद्यपि उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा है, भारत के नाट्य शास्त्र के कुछ अध्यायों का अनुवाद भी किया है, परन्तु वह प्रधानतया आलोचक हैं।

उनका प्रस्तुत निबन्ध उनके उस चिन्तन का परिचायक होता है जो नई कविता के विषय में उन्होंने किया है। यह निर्विवाद है कि व्यक्ति समाज की परिधि से बाहर अपना कोई अस्तित्व रखे। अतएव नई कविता के सामाजिक परिवेश का ज्ञान उसे समझने के लिए अति आवश्यक है। ताठर निश्चय ही डा० रघुवंश की सरल शैली द्वारा, नयी कविता जैसे व्यापक विषय के सम्बन्ध में अवश्य सामान्यित होंगे।

६. लक्ष्मीकान्त वर्मा

नयी कहानी के उन्मायकों में से हैं। प्रगतिशील साहित्य की अनुभूति यज्ञना से असंतुष्ट होकर जब नई कविता का जन्म हुआ तो स्वाभाविक तः कि 'नयी कविता' की आवश्यकता और तत्सम्बन्धी कुछ मान्यताओं का विवेचन पाठकों के सामने रखा जाय। और उसके अस्तित्व एवं स्थापत्य की आवश्यकता बताई जाय। अतएव नई कविता के समर्थक अपनी विचारधारा के प्रतिपादन के लिए सभी प्रकार के उपादान जुटाने लगे। किसी ने मौलिकवाद का सहारा लेकर उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन किया, किसी ने पुरानी परम्पराओं और रुढ़ियों को जोर देकर नई परम्पराओं को विकसित करने पर जोर दिया। किसी ने शैक्षणिकता का अवलम्ब छोड़कर यथार्थ जीवन के चित्रण को अनिवार्य बताया और किसी ने मनोविज्ञान का आधार लेकर नयी विचारधारा का प्रतिपादन किया।

प्रस्तुत निबन्ध में लक्ष्मीकान्त वर्मा ने मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा नयी कविता और काव्य व्यञ्जना की साम्यता बताई है। उन्होंने विचार के एक युद्ध को वर्तमान युग की प्रेरणा मानकर नये परिवेश में काव्य-जन अनिवार्य माना है। नयी कविता में जो अहम्वाद दिखाई देता है उसके कारण पर विचार कर यह निष्कर्ष निकाला है कि कवि अपने वैयक्तिक अनुभवों को सकेत सामाजिक अभिव्यक्ति दे रहा है जो अहम्वाद नहीं कहा जा सकता। समस्त निबन्ध पठनीय है।

१०. नन्ददुलारे बाजपेयी (१९०६-१९६७)

हिन्दी के समर्थ आलोचक थे । आरम्भ में उन्होंने वर्षों तक पत्र सम्पादन-कार्य किया और इसमें प्रसिद्धि प्राप्त की । बाद में विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर हिन्दी विभाग की अध्यक्षता की और अन्त में उज्जैन विश्वविद्यालय के उपकुलपति-पद तक पहुँच कर विधाम लिया ।

बाजपेयी जी ने केवल स्वयम् ही प्रभूत साहित्य की रचना नहीं की वरन् अपने शिष्यों की भी एक अच्छी टोली बनाई जिसने समीक्षा-क्षेत्र को अपनी प्रचुर सेवाओं से उसे भरा-पूरा बना दिया । बाजपेयी जी ने बनारस विश्वविद्यालय से एम० ए० किया था । उन्हें प्रसाद जी के निकट सम्पर्क में आने का पूर्ण अवसर मिला । कात्यायनी भी दत्तेश्वर द्वार उन्होंने कवि के धीमूख से सुनी होगी और उनकी भावनाओं के जानने का सुअवसर भी उन्हें मिला होगा ।

प्रसाद जी के काप्रिय के परिवेश में उनका 'कात्यायनी' विषयक निबन्ध अपनी जिम्मेपत्ता रखता है । इसीलिए इसे चुना गया है ।

११ डा० सोमनाथ गुप्त (जन्म सन् १९०५)

डा० सोमनाथ का जन्म उत्तर प्रदेश में हुआ । शिक्षा अधिराज में इम्फाटायर में हुई, वहीं ने सन् १९३० में प्रथम धेणी में हिन्दी में एम० ए० किया और उसी वर्ष अजन्त कावेज, जालपुर में हिन्दी के प्राध्यापक बने । १९६० में महाराजा कावेज, जयपुर में प्रसिद्धि के पद से रिटायर हुए और आजका विश्वविद्यालय धनुदान आयोग के संरक्षण में खोज विषयक कार्य में सलग्न हैं । हाल ही में राजस्थान विश्वविद्यालय में उनके शोध प्रबन्ध 'पारसी वियेटर : उद्भव और विकास' पर डी० लिट् की उपाधि प्रदान की है ।

डाक्टर साहब का प्रधान क्षेत्र खोज है और वह भी हिन्दी नाटक के

प्रस्तुत निबन्ध लेखक की एक पुरानी रचना है—समग्र सन् १८५०-५६ की, जब हिन्दी कविता एक नया मोड़ ले रही थी और हमारे नवीन कवि तार-सप्तको द्वारा हिन्दी काव्य-गगन को अपने स्वरो से सज्जित कर रहे थे। उनके विचार में "... इस दशक के आरम्भ में कवि के सामने सामाजिक उत्तरदायित्व का प्रश्न अपूर्ण रूप में पड़ा हुआ और कवि ने व्यक्ति के सामाजिकरण की आवश्यकता अनुभव की। रोमानी युग के दाद यह धारणावाद का आरम्भ था।"

१४. डा० रामविलास शर्मा (जन्म सन् १९१२)

अंगरेजी के डाक्टर होने हुए भी रामविलास जी हिन्दी साहित्य में बेबस रचि ही नहीं रहने बरन् उसके जाने-माने विद्वान् हैं। उनकी आलोचनाएँ लेखक के गहन अध्ययन, गंभीर चिन्तन और उत्तम मनन का परिणाम हैं। शर्माजी का दृष्टिकोण प्रगतिशील साहित्यिक दृष्टिकोण है। वे प्राचीन के छन्द और वर्तमान के मञ्च में निर्याम करते हैं। अंगरेजी साहित्य के अध्ययन के कारण उनकी रचनाओं में एक गद्यमिता और तर्कवद्धता है। उनके तर्क में स्पष्टता और भावाभिप्यक्ति में सरलता एवं बोधगम्यता है।

डा० रामविलास शर्मा का व्यक्तित्व बहुरंगी व्यक्तित्व है। उसमें गंभीरता है, व्यंग्यप्रियता है और प्रेरणा की अद्भुत शक्ति है। यही कारण है कि उनके चारों ओर जिज्ञासुओं की एक मोड़-सी सगी रहती है।

शर्माजी भारतेन्दु-युग के विशेषज्ञ हैं। भारतेन्दु-युग को उन्होंने बड़ी पनी दृष्टि से देखा है और वर्तमान हिन्दी साहित्य के इस प्रेरणा-स्रोत की अनेक उपधाराओं का विस्तृत वर्णन यदाकदा अपने कई लेखों में किया है।

प्रस्तुत निबन्ध प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपियर की रचनाओं में पाये जाने वाले विभिन्न तत्वों में से एक तत्व पर प्रकाश डालता है।

कवि-शिक्षा : क्षेमेन्द्र-कृत कण्ठाभरण

[भाषायां महावीरप्रसाद द्विवेदी]

विजय के ग्यारहवें शतक में काश्मीर में अनन्तदेव नामक एक राजा था । उसके शासन-काल में क्षेमेन्द्र नामक एक महाकवि हो गया है । वह बहुधृत, बहुज्ञ और बहुदर्शी विद्वान् था । उसकी प्रतिभा बड़ी ही विलक्षण थी । उसने 'कवि-कण्ठाभरण' नाम का एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा है । उसमें आपने बताया है कि बिन साधनों में मनुष्य कवि हो सकता है और किस तरह उसकी सुखबन्दी बरिदा बहुराई जाने योग्य हो सकती है । क्षेमेन्द्र खुद भी महाकवि था, अतएव उसके बताने हुए साधन अवश्य ही बड़े महत्व के होने चाहिए । यही समझकर हम अपने हिन्दी के कवियों के जानने के लिए क्षेमेन्द्र के निर्दिष्ट साधनों का ध्यान में उल्लेख करते हैं ।

कवि होने के लिए पाँच बातें अनिवार्य हैं । वे पाँच बातें ये हैं—

- १—कवित्व-वर्ति,
- २—शिक्षा,
- ३—समस्यारोप-ज्ञान,
- ४—गुण-दोष-ज्ञान,
- ५—परिचय-करण ।

अब इन पाँचों का संक्षिप्त विवेचन करना ।

हिन्दी-विज्ञान में कवित्व-वर्ति बीज-रूप में रहती है । उसे समुत्पन्न करना पड़ता है । जिसने वह नहीं होड़ी, वह अच्छा कवि नहीं हो सकता । कवित्व-वर्ति को उत्पन्न करने के दो उपाय हैं—विषय और शीर्षक ।

कवित्व-शक्ति—सरस्वती देवी के त्रिधा-मातृका-मन्त्र का जप करना, उमरी मूर्ति का ध्यान करना और उसके मन्त्र का पूजन करना इत्यादि दिव्य उपाय हैं । योर्ग्रेष उपाय यद् है कि किसी अच्छे कवि को यह धनाकर उमरी यथाविधि काव्यगाम्त्र का अध्ययन करना ।

कवि बनने की दृष्टि से काव्यगाम्त्र का अध्ययन करने वाले शिष्य तीन प्रकार के होते हैं—अल्प-प्रयत्न साध्य, कृच्छ्रसाध्य और असाध्य ।

धीरे ही अध्ययन में जो सफल-मनोरथ हो जायें, वे अल्प-प्रयत्न-साध्य, अध्ययन में विशेष परिश्रम करने में जिन्हें इष्ट लाभ हो, वे कृच्छ्र-साध्य, जो बरगो सिर पीटने पर भी कुछ न कर सकें वे असाध्य समझे जाते हैं ।

अल्प-प्रयत्न-साध्य शिष्यों के कर्तव्य गुणित ।

ऐसे पुरखों को चाहिए कि वे किसी अच्छे माहिर-ज्ञात कवि से अध्ययन करें । जो केवल तार्किक या रसाकरण हो उनमें मश दूर रहे । जो सरस-हृदय हो, स्वयं कवि हो, व्याकरण भी जानता हो, छन्दोप्रयोगों का भी पारगामी हो, उसे गुरु बनाना चाहिए । अच्छे-अच्छे काव्यों को उनके मुख से सुनना चाहिए । माया, प्राकृत तथा अन्याय्य प्रान्तीय भाषाओं के पद्यों का भी सावधान श्रवण करना चाहिए । चमत्कारपूर्ण उक्तियों के विषय में चर्चा करनी चाहिए । प्रत्येक रस के आस्वादन में तन्मग्न हो जाना चाहिए । जहाँ जिस गुण का प्रकर्ष हो वहाँ अभिनन्दन करके आनन्दित होना विवेक-बुद्धि द्वारा भले-बुरे काव्य को पहचानने की चेष्टा करनी चाहिए । ऐसा करते-करते कुछ दिनों में कवित्व-शक्ति अकुरित हो उठती है और उस शक्ति से सम्पन्न होने पर कविता करने की योग्यता आ जाती है ।

कृच्छ्र-साध्य जनों को चाहिए कि कालिदास आदि सत्कवियों के रचनाओं को आचिन्त पढ़ें और पूरक विचारपूर्वक पढ़ें । इतिहासों

का भी अध्ययन करें। सांकिकों से दूर ही रहें। कविता के मधुर सौरभ को उनमें नष्ट होने से बचाते रहें। अभ्यास के लिए कोई नया पद्य लिखें तो मशरुदियों की शैली को सदा ध्यान में रखें। पुराने कवियों के श्लोकों के पद घोर वाक्य आदि को निकालकर उनकी जगह पर अपने बनाए पाद, पद घोर वाक्य रखें। अभ्यास बढ़ाने के लिए वाक्यार्थ-शून्य पद्य बनायें। सभी-सभी अन्य कवियों की रचना में फेर-फार करके, कुछ अपना, कुछ उनका रखकर नूतन अर्थ का समावेश करने की चेष्टा करें।

❧ जो लोग किन्हीं बड़े रोग से पीड़ित हैं, व्याकरण और तर्कशास्त्र के मतनाम्नाम से जिनकी मद्दयता नष्ट हो गई है, अनएव मुनवियों की पवित्रा मुनने में भी जिन्हें कुछ भी आनन्द नहीं प्राप्त होता, उन्हें असाध्य समझना चाहिए। उनका हृदय पत्थर के समान कड़ा हो जाता है, उमकी बीमरना बिमबुल हो जाती रहती है ❧

न तस्य वचनृत्वसमुद्भव स्याच्छिष्टाविशेषैरपि सुप्रयुजः ।

न गर्दभो गायति शिशितोर्षि सन्दर्शितं पश्यति मारुतम् ॥

उमें चाहे बीमा हो अच्छा गुरु क्यों न मिले और चाहे किननी ही अच्छी शिक्षा क्यों न दी जाय वह कवि नहीं हो सकता। सिखाने में भी क्या पछा कभी गीत गा सकता है और हँकार दफे सिखाने में भी क्या अन्धा कभी मृग को देख सकता है ?

शिक्षा—वचित्त्व-शक्ति स्फुरित हो जाने पर क्या करना चाहिए—बिम तरह की शिक्षा से उमकी प्रखरता को बढ़ाना चाहिए—मो भी सुनिए ।

प्राप्त-वचित्त्व-शक्ति कवि को चाहिए कि वह वृत्त-शूरण करने का उद्योग करे; समस्यापूति करे; दूसरे की वचिताओं का पाठ किया करे, वाक्य के भ्रमों का ज्ञान प्राप्त करे; सत्कवियों की सगति करे; महा-वचियों के काव्यार्थ का विचार किया करे; प्रसन्नचित्त रहे; अन्टे वेग

में रहा करे; नाटकों का अभिनय देखे; गाना सुनने का शौक रखे; सोका-चार का ज्ञान प्राप्त करे; इतिहास देखे; चित्रकारों के अच्छे चित्रों और शिल्पियों के अच्छे-अच्छे शिल्पकार्यों का अवलोकन करे; धीरों का मूढ़ देखे; श्मशान में घोर अरण्या में घूमे और आर्त तथा दुःखी मनुष्यों के शोकप्रनाल-पूर्ण वचन सुने । इन सब बातों से शिक्षा प्राप्त करना उनके लिए बहुत जरूरी है ।

परन्तु इतनी ही शिक्षा बग नहीं । और भी उसे बहुत कुछ करना चाहिए । उसे मीठा और स्निग्ध भोजन करना चाहिए; धानुषों का मम रखना चाहिए, कभी शोक न करना चाहिए, दिन में कुछ सो लेना चाहिए और थोड़ी रात रहे जागर अपनी प्रतिभा को प्रखर करना चाहिए । उस समय कुछ कविता करनी चाहिए, प्राणियों के स्वभाव की परीक्षा करनी चाहिए; समुद्र-तट और पर्वतों की सीर करनी चाहिए, सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों के स्थान और उनकी गति आदि का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; सब ऋतुओं की विशेषता और उनका भेद समझना चाहिए; मर्यादों में जाना चाहिए, एक बार लिखी हुई कविता का मशोधन दो-तीन दफे करके उसे खूब परिमार्जित करना चाहिए ।

सुकवि होने की इच्छा रखने वाले के लिए अभी और भी बहुत से काम हैं । उसे पराधीनता में न रहना चाहिए, अपने उत्कर्ष पर गर्व न करना चाहिये, पराये उत्कर्ष को सहने की आदत डालनी चाहिए, दूसरे की श्लाघा सुनकर उसका अभिनन्दन करना चाहिए; अपनी श्लाघा सुनने में सकोच करना चाहिए, व्युत्पत्ति के लिए—शिक्षा या विद्यावृद्धि के लिए सबकी शिष्यता स्वीकार करने को तैयार रहना चाहिए, सन्तुष्ट रहना चाहिए, सत्यशील बनना चाहिए, किसी से यादृच्चा न करनी चाहिए, ग्राम्य और अश्लील बात मुंह से न निकालनी चाहिए, निर्बिकार रहना चाहिए, गाम्भीर्य धारण करना चाहिए, दूसरे के द्वारा किए गए आक्षेप सुनकर विगड़ना न चाहिए, और किसी के सामने दीनता न दिखानी चाहिए ।

इन निशाओं या उपदेशों पर विचार करने में पाठकों को मान्य होना कि कवि-कर्म कितना कठिन है। विधाता की सारी सृष्टि का ज्ञान कवि को होना चाहिए—लोक में जो कुछ है सबसे उसे अभिज्ञता प्राप्त करनी चाहिए। प्राकृतिक दृश्यों को खुद देखना चाहिए और प्राणियों के स्वभाव से भी उसे परिचित होना चाहिए। ये सब बातें इस समय कौन करता है ? फिर कहिए, कोई कवि कैसे हो सकता है ? पिगल पद लेने से यदि कोई कवि हो सकता तो आजकल कवि गली-गली मारे-मारे फिरने। तुलसीदास करना और चीज है, कविता करना और चीज।

शिक्षित कवि की उत्कियो में चमत्कार होना परभावश्यक है। यदि कविता में चमत्कार नहीं—कोई विलक्षणता ही नहीं—तो उससे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्षेमेन्द्र की राय है—

“नहि चमत्कारविरहितस्य कवे कवित्व काव्यस्य वा काव्यत्वम्।”

चमत्कारोत्पादन—यदि कवि में चमत्कार पैदा करने की शक्ति नहीं तो वह कवि नहीं, और यदि चमत्कार-पूर्ण नहीं तो काव्य का काव्यत्व भी नहीं। अर्थात् जिस गद्य या पद्य में चमत्कार नहीं वह काव्य या कविता की सीमा के भीतर नहीं आ सकता—

एषेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण

काव्य चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम् ।

निर्दोषतेजामपि रोहति कस्य चित्ते

सावध्यहीनमिह यौवनमंगनानाम् ॥

काव्य चाहे कौन ही निर्दोष क्यों न हो, उसके सुवर्ण चाहे कैसे ही मनोहर क्यों न हो—यदि उसमें अनमोल रत्न के समान कोई चमत्कारों से पूर्ण पद न हुआ तो वह, स्त्रियों के सावध्य-हीन यौवन के समान, चित पर नहीं खड़ा।

कविता में चमत्कार माना साथ पिगल पढ़ने धीर रस, ध्वनि तथा अलंकारादि के निरूपक ग्रन्थों के पारायण से सम्भव नहीं। उनके लिए प्रतिभा, साधन, अभ्यास, अवलोकन और मनन की जरूरत होती है। पिगल आदि का पढ़ना एक बहुत ही गौण बात है।

एक विरहिणी अशोक को देखकर कहती है—तुम ग़ुन पून रहे हो, लताएँ तुम पर बेतरह छाई हुई हैं, कमियों के गुच्छे सब कहीं लटक रहे हैं, भ्रमर के समूह जहाँ-तहाँ गुञ्जार कर रहे हैं। परन्तु मुझे तुम्हारा यह आडम्बर पसन्द नहीं। इंगे हटाओ। मेरा प्रियतम मेरे पास नहीं। अतएव मेरे प्राण कण्ठगत हो रहे हैं।

इस उक्ति में कोई विशेषता नहीं—इसमें कोई चमत्कार नहीं। अतएव इसे काव्य की पदवी नहीं मिल सकती। अब एक चमत्कारपूर्ण उक्ति सुनिए। कोई वियोगी स्वताशोक को देखकर कहता है—मधीन पत्तों से तुम रत्न (ताल) हो रहें हो, प्रियतमा के प्रशमनीय गुणों में मैं भी रत्न (अनुरक्त) हूँ। तुम पर शिनीमुख (भ्रमर) आ रहे हैं, मेरे ऊपर भी मनसिज के धनुष से छूटे हुए शिनीमुख (बाण) आ रहे हैं। काल्ता के चरणों का स्पर्श तुम्हारे आनन्द को बढ़ाता है; उसके स्पर्श से मुझे भी परमानन्द होता है, अतएव हमारी-तुम्हारी, दोनों की अवस्था में पूरी-पूरी समता है। भेद यदि कुछ है तो इतना ही कि तुम अशोक हो और मैं सशोक। इस उक्ति में सशोक शब्द रखने से विशेष चमत्कार आ गया। उसने 'अनमोल रत्न' का काम किया। यह चमत्कार किसी पिगल पाठ का प्रसाद नहीं और न किसी काव्याग-विवेचन ग्रन्थ के नियम परिपालन का ही फल है।

उस दिन हम एक महायात्रा में कुछ लोगों के साथ गंगातट तक गये थे। यात्री की मृत्यु पञ्चक में हुई थी। शव चिता पर रखा गया। अग्नि-संस्कार के समय एक लकड़ी खिसकी। इससे शव का

गिर हिल गया। हम पर एक आदमी बोला—सकड़ी खिसकने से सिर हिल गया। यह सुनकर दूसरा बोल उठा—नही-नही, अमुक चाचा गिर हिलाकर मना कर रहे हैं कि अग्नि-सस्कार न करो, हम धनिष्ठा पञ्चक में मरे हैं। यह उक्ति यद्यपि एक ग्रामीण की है। तथापि इसमें समन्वय है। कवि को ऐसे ही चमत्कार लाने का उद्योग करना चाहिये।

गुण-श्लेष-ज्ञान—वाच्य के पाँच प्रकार हैं—मगुण, निर्गुण, सदोष, निर्दोष और गुण-श्लेष-मिश्रित। गुण तीन प्रकार के हैं—शब्द-वैमत्य, अर्थवैमत्य और रसवैमत्य। श्लेष भी तीन प्रकार के हैं—शब्दकालुष्य, अर्थकालुष्य, रस-कालुष्य। इन सबके लक्षण इनके नाम ही से व्यक्त हैं।

कवि को निर्दिष्ट दोषों में घबरेने का यत्न करना चाहिए। परन्तु बचेंगा उनमें वही जो उन्हें जानना होगा। अतएव कविता-विषयक गुण-श्लेषों का ज्ञान प्राप्त करना भी कवि के लिए आवश्यक है।

परिचय-व्यापकता—कवि को सब शास्त्रों, सब विद्याओं और सब कलाओं आदि में परिचित होना चाहिए। क्षेमेन्द्र की आज्ञा है कि तर्क, व्याकरण, नाट्य-शास्त्र, काम-शास्त्र, राजनीति, महाभारत, रामायण, वेद, पुराण, आत्मज्ञान, धातुवाद, रत्नपरीक्षा, वैद्यक, ज्योतिष, धनुर्वेद, गज-मुरग, पुष्प-परीक्षा, इन्द्रजाल आदि सब विषयों का ज्ञान कवि को सम्पादन करना चाहिए। कवियों को पद-पद पर इनमें काम पढ़ना है। जो इनसे परिचय नहीं रखता वह बहुश्रुत नहीं हो सकता और उसे विद्वानों की सभा में आदर नहीं मिल सकता।

भारतीय साहित्य की विशेषताएँ

[डा० श्यामसुन्दर दास]

जातीय-साहित्य—भौगोलिक कारणों से हो अथवा जलवायु के फलस्वरूप हो अथवा अन्य किसी कारण से हो, प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ-न-कुछ विशेषता होती है। जब हम यूनानी साहित्य, ग्रीक साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का नाम लेते हैं और उनके सम्बन्ध में विचार करते हैं तो उनमें स्पष्ट रीति से कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनके कारण उनके रूप ही कुछ विभिन्न जान पड़ते हैं तथा जिनके फलस्वरूप उनके स्वतन्त्र अस्तित्व की साधकता भी समझ में आ जाती है। यह सम्भव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और कुछ विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित होकर सामयिक जातीय आदर्शों से बहुत ऊँचा उठ जाय अथवा उनके विपरीत पथ का अनुसरण करे, परन्तु साहित्य के साधारण विकास में जातीय भावों तथा विचारों की छाप किसी-न-किसी रूप में अवश्य रहती है और इसका एक कारण है।

प्रत्येक सभ्य तथा स्वतन्त्र देश का अपना स्वतन्त्र साहित्य तथा अपनी स्वतन्त्र कला होती है। भारतवर्ष में भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं का स्वतन्त्र विकास हुआ और उनकी अपनी विशेषताएँ भी हुईं। भारतीय साहित्य तथा कला की विशेषताओं पर साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारों की गहरी छाप है। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे हैं, हमें वर्तमान स्थिति की इतनी चिन्ता कभी नहीं हुई जितनी भविष्य की चिन्ता रही है। यही कारण है कि हमारे साहित्य

तथा अन्य मुनि कलाओं में आदर्शवादों की प्रचुरता देख पड़ती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि साहित्य और कलाएँ हमारे भावों तथा विचारों का प्रतिबिम्ब-मात्र हैं। सारांश यह कि जहाँ सत्कार की उन्नत जानियों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, वहाँ उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्हीं साहित्यिक विशेषताओं के कारण 'जातीय साहित्य' का व्यतिरिक्त निर्धारित होना है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जातिगत विशेषताएँ मनु मनु पुरातन आधारों पर ही स्थित रहनी हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि समय, सत्ता और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों में परिवर्तन हो जाना है, पर उनके पुरातन आधारों का सर्वथा लोप नहीं होता। इन्हीं पुरातन आदर्शों की नींव पर नये आदर्शों की उद्भासना होती है। जहाँ वास्तविकता में ऐसा नहीं होने पाना वहाँ के नये आदर्शों के स्थापित में बहुत-कुछ कमी हो जाती है। जातीयता के स्थायित्व के लिए आदर्शों की धारा का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। हाँ, समय-मसय पर उस धारा की धगधुल्ल के लिए नये आदर्शों की खोज का उममें मिलना आवश्यक और हितकर होता है। ठीक यही स्थिति साहित्य-रचना नाम्ना की भी होती है। जिस प्रकार किसी जाति के परम्परागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धान्त सहसा गुप्त नहीं हो सके उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएँ भी अपनी जातीयता को लोप नहीं कर सकती। जातीयता का लोप कलाओं के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है। अब उसका परित्याग अथवा उसकी अवहेलना किसी अवस्था में उचित नहीं। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार फैजी रुमीन ने, अभी पाँचे दिन हुए, कहा है—

“भारतीय कला तो अब नष्ट हो गई। न तो उसको ठीक-ठीक

समझने वाले हैं और न उसका यथावत सम्मान करने वाले हैं। हमारा कलाकार ऐसी रचनाएँ करते हैं जिनमें मौलिकता होती ही नहीं। इसका कारण यह है कि ये कलाकार मन्वे भारतीय भावों को भूलकर विदेशियों का अनुसरण कर रहे हैं। मेरी सम्मति में ये पश्चिमीय कलाकारों की समता कर ही नहीं सकते—विशेषकर ऐसी अवस्था में जबकि वे उनकी स्वतन्त्र शैलियों का उपयोग करते हैं। इसी बीच में वे अपनी स्वतन्त्र शैलियों को भूल जा रहे हैं।

“आजकल भारतीय विद्यालयों में जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बहुत भद्दी है, यह अद्यतन तथा निम्न श्रेणी की होती है। हम छात्र-वृत्तियाँ देकर भारतीय विद्यार्थियों को कला की शिक्षा के लिए यूरोप भेजने का प्रयत्न करते हैं। मेरी सम्मति में यह हमारी भूल है। मेरे विचार में उन्हें भारतीय कला की शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें भारतीय शैली से परिचित होना चाहिए। पश्चिमीय कलाकारों की समता करने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता।”

हिन्दी में जातीय साहित्य की योग्यता—अस्तु, उस अधिक व्यापक विषय को यही छोड़कर हमें अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हमें हिन्दी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना है। हम यह जानते हैं कि हिन्दी साहित्य का वंशगत सम्बन्ध प्राचीन भारतीय साहित्यों से है; क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परम्परा ही हिन्दी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की हो नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिन्दी ने भी संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्यों में अभिव्यजित आर्य जाति की स्थायी चित्त-वृत्तियों और उसके विचारों की परम्परागत सम्पत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य में जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य-मुख्य

विशेषनामों का विचार करेंगे और तब हिन्दी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे ।

११ हिन्दी की विशेषताएँ—^(१)समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है । उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के वन पर समाज के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका पहना सकती है और अपने स्वतन्त्र जस्तित्व की सायंजना प्रमाणित कर सकती है । जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान भक्ति तथा कर्म के समन्वय की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वषों एवं आश्विन-चतुष्टय के निरूपण द्वारा हम देश में सामाजिक समन्वय का सफर प्रयास हुआ है ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्योन्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की घोर रही है । साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उद्यान-वनन एवं-विषाद आदि विरोधी तथा विरोध भावों के समीकरण तथा एक जलौकिक आनन्द में उनके निर्वृत्त होना है । साहित्य के किसी घण को गंवार देखिए, सदृश यही समन्वय दिखाई देगा । भारतीय नाटकों में ही सुख और दुःख के प्रबल पान-प्रतिपात दिखाये गए हैं पर सबका अवगत आनन्द में ही विद्या गया है । इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय मनु में जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करने उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है । वर्तमान स्थिति में उसका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना भविष्य की सम्भाव्य उन्नति से है । हमारे यहाँ यूरोपीय युग के दुष्कान्त नाटक इसीलिए नहीं देख पड़ते । यदि आजकल दो-चार ऐसे नाटक देख भी पड़ते सगे हैं तो वे भारतीय आदर्शों से दूर और यूरोपीय आदर्शों के अनुकरण मात्र हैं । बिना के क्षेत्र में ही देखिए । यद्यपि विदेशीय शासन से पीड़ित तथा अनेक कष्टों में मग्न देश निराला की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवयवों की

है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी इन विज्ञानों का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवन्मा में कुछ भी अन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं दोनों सत्य हैं चेतन हैं तथा आनन्द-स्वरूप हैं। बन्धन मायाजन्य है। माया अज्ञान है भेद उत्पन्न करता वाली शक्ति है। जीवन्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर अपना मन्त्रा स्वरूप पहचानता है और आनन्दमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनन्द में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का धर्म उद्देश्य है। जब हम इन दार्शनिक सिद्धान्तों का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त मन्त्रव्यवाद पर विचार करते हैं, तब सारा रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा इस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

(२) भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है। अतः केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचार-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियन्त्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के ऐकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-सामाज्य में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिर्वाधिर्व विस्तृत तथा व्यापक होना गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इन अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भाव-नाओं और जीवन सम्बन्धी गहन तथा गम्भीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य में लेकर हिन्दी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही ध्यान पाने हैं। सामने की मनोहारिणी तथा मृदु गम्भीर ऋचाओं

प्रकार अवहेलना नहीं कर सकते। सब प्रकार की शृङ्गारिक कविता गेमी नहीं है कि उममें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कल्पित वागनाथों का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वागनाथजन्य प्रेम में परिणत हो गया था।

साहित्य की देशगत विशेषताएँ—यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेषताएँ हैं परन्तु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवेचन में ही मन्नोप करके उसकी दो-एक देशगत विशेषताओं का वर्णन करके यह प्रमग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत-बहुत स्थायी भी होता है। समार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जलवायु तथा गर्मी-मर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त, उनमें प्राकृतिक दृश्यो तथा उर्वरता आदि में भी अन्तर होता है। यदि पृथ्वी पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घबाय मरु-भूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इगलैण्ड तथा आयरलैण्ड-जैसे जलावन द्वीप हैं तो चीन-जैसा भूखण्ड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्य से सम्बन्ध होता है, इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते हैं।

हिन्दी की देशगत विशेषताएँ—भारत की शस्यश्यामला भूमि में जो निमर्गसिद्ध सुपमा है, उममें भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यो तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्य-मात्र के लिए आकर्षक होती हैं, परन्तु इसकी सुन्दरतम विभित्तियों में मानव-वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरस्यल में बहने हुए किसी साधारण में भरने अथवा ताड़ के लम्बे-लम्बे पेड़ों में ही सौन्दर्य का अनुभव कर लेते हैं, तथा ऊँटों की चाल में ही सुन्दरता की कल्पना कर लेते हैं। परन्तु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादिन शीतभाता पर सन्ध्या

रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उनके मधुर स्वरूप में प्रयोजन होता है, क्योंकि भावनावेश के लिए प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उतारो-चढ़ाव होती है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि हम देश की उत्तरवान्ता विचारधारा के कारण हिन्दी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं परन्तु कुछ प्रेम प्रधान कविशा न भारतीय मनोरम दृष्टि से मन्त्रालय में अपनी रहस्यमयी उक्तियों का अत्यधिक मरस तथा हृदयपाती बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक विशेषता है।

हिन्दी के कलापक्ष को विशेषताएँ—य जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अनिश्चित उगरे कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष में हमारा अभिप्राय केवल मन्द-मन्दतन अथवा छन्द रचना तथा विविध अलंकारिक प्रयोगों से हो नहीं है बल्कि उसमें भावों को व्यक्त करने की गौरी भी सम्मिलित है। यद्यपि शायद कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विशेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व में परिचित हो सकते हैं परन्तु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कविता में प्रथमपुरुष एवम्बर के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्यपुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं। पौगंडेरी में हमी अभिप्राय के आधार पर कविता के व्यक्तित्व तथा अभ्यन्तरीय मानक विभेद हुए हैं परन्तु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी ही नहीं के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यक्ति होता है, केवल हम अभिव्यक्ति के ढंग में अन्तर रहता है। कुछ में वे आदर्श, आत्मवचन अथवा आत्मनिर्देशन के रूप में व्यक्त किये जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यक्त करने के लिए व्यक्तामर प्रणाली का प्रयोग पहचाना जाता है। भारतीय कविता में दूसरी व्यक्तामर प्रणाली की अधिकता तथा पहली की स्थानातीर्णता पाई जाती है। यही कारण है कि हम

के व्यञ्जक शब्द हिन्दी में नहीं मिलते । छडीबोली में तो त्रियापदों का अभाव इतना खटवता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को गिराकर नवीन त्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करते लगे हैं और 'सरमाना', 'विजमाना' आदि द्व्यभाषा के रूपों को भी छडीबोली में लेने लगे हैं । हिन्दी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परन्तु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता ढूँढना मेरे विचार में भाषाशास्त्र के नियमों के प्रतिबन्ध होगा । संस्कृत के स्त्रीलिंग 'देवता' को हिन्दी में पुल्लिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है; पर यह तो केवल एक उदाहरण है । इसके विपरीत संस्कृत के 'कर्म' तथा 'कार्य' को हिन्दी में 'काम' या 'काज' बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है । कभी-कभी तो हम अपने 'स्वभाव-वैषम्य' के कारण शब्दों की गायकता का व्यर्थ विरोध करते हैं । प्रातःकालीन सुषमा की सच्ची छोनकता 'उषा' शब्द में है । हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस सुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह 'सरस्वती' के समकक्ष समझी गई थी । उषा के उपरान्त जब सुषुप्त ससार जागकर कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त स्थावर-जगम पदार्थ चेतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, उस समय-द्योतक 'प्रभात' शब्द की बल्पना स्त्रीलिंग में करना हमारी अपनी दुर्बलता कह-लाएगी, 'प्रभात' के पुरुषत्व में उससे कुछ भी अन्तर न पड़ेगा । हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि हिन्दी का शब्द-कोश बहुत-कुछ काव्यापमोर्गी है, तथापि उसमें कुछ त्रुटियाँ हैं । कभी-कभी उसकी त्रुटियाँ बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं और भाषा के विकास-त्रम की अवहेलना कर उसकी जाँच अपने वैयक्तिक विचारों के आधार पर होती है । यदि ऐसा न हुआ करे तो हिन्दी के शब्दों में भावानुरूपता की योग्यता सन्तोषजनक परिमाण में प्रतिष्ठित हो सकती है ।

हिन्दी में भारतीय संगीत—भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता

के अक्षरक शब्द हिन्दी में नहीं मिलते । खड़ीबोली में तो त्रियापदों का
 अभाव इनका छटकता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को
 शिथिल कर नवीन त्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करने लगे हैं और
 'मरमाना', 'विवमाना' आदि वज्रभाषा के रूपों को भी खड़ीबोली में लेने
 लगे हैं । हिन्दी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता
 है, परन्तु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता ढूँढना मेरे विचार में भाषाशास्त्र
 के नियमों के प्रतिकूल होगा । संस्कृत के स्त्रीलिङ्ग 'देवता' को हिन्दी में
 पुल्लिङ्ग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है, पर यह
 तो केवल एक उदाहरण है । इसके विपरीत संस्कृत के 'कर्म' तथा 'कार्य'
 को हिन्दी में 'काम' या 'काम' बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता
 तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है । कभी-कभी तो हम अपने
 'स्वभाव-वैषम्य' के कारण शब्दों की गार्हक्यता का व्यर्थ विरोध करते
 हैं । प्रातःकालीन मुषमा की सच्ची छोनरता 'उषा' शब्द में है । हमारे
 प्राचीन ऋषियों ने उस मुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान
 किया था और वह 'मरस्वती' के समकक्ष समझी गई थी । उषा के उपरान्त
 जब मुपुष्ट सत्तार जागकर कर्म-क्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त
 स्यावर-जगम घटाघं चैतन्य तथा कर्मण्य हो लड़ते हैं, तब भगवत्-शोचक

है कि उममे स्वरों तथा नय का गामजम्ब रवानित किया गया है ।
 भारतीय संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरों के नाम
 य या राग की बहुत-कुछ अवहेलना की गई है। इस देश में अत्यन्त
 धीन काल में गीतों की उत्पत्ति होती आई है और अनेक संगीतशास्त्रीय
 ग्रंथों का निर्माण भी होना आया है। यहाँ का प्राचीन संगीत यद्यपि अपने
 इस रूप में अब तक मिलना है, परन्तु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देशों
 के फलस्वरूप उसकी 'देशी' नामक एक विभिन्न शाखा भी हो गई
 सका विकास निरन्तर होता रहा। हिन्दी साहित्य के विकास-काल में
 'देशी' संगीत प्रचलित हो चुका था, अतः उसमें 'देशी' संगीत का बहुत
 कुछ पुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागों और रागिणियों के अनेक
 रों का ठीक-ठीक अभिव्यजन करने की क्षमता जितनी हिन्दी ने दिखाई
 है, ही जितने सुचारु रूप से संगीत के अन्य अवयवों का विकास उसमें
 हो है वैसा अन्य किसी प्रान्तीय भाषा में नहीं हुआ।

हिन्दी की दो अन्य महत्वपूर्ण विशेषताएँ—हमारे साहित्य पर उप-
 कृत जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत-कुछ स्थायी है। इनमें
 अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिन्दी साहित्य के विकास
 घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा जिनकी छाप हिन्दी साहित्य पर स्थायी
 ही तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिन्दी साहित्य
 प्रारम्भिक युग के पहले ही संस्कृत साहित्य उत्पत्ति की चरम सीमा
 तक पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन-नवीन
 —प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उदभावनाओं की जो

के फेर में पड़कर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति रुक-सी गई थी और तत्कालीन समूह में जीवन की गति तथा उल्लास नाम भार की भी नहीं रह गया था। समूह के बिना अलवारों में नदी हुई जीवनहीन रास्ते की भाँति निष्प्रभ तथा निरमर हो चुकी थी। हिन्दी के मूलभूत विभाग में समूह के इस स्वभाव ने बड़ी-बड़ी खाँसे डाली। पूरे ना हमारे परिणामस्वरूप हिन्दी काव्य का क्षेत्र बहुत-बहुत परिमित हो गया, और हमारे हिन्दी भाषा भी स्वाभाविक रूप में विकसित न होकर बहुत दिना तक अप्रवृत्त बनी रही। यदि हिन्दी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दुर्परिणामों का निवारण करने का प्रयत्न किया न भी होता तो हिन्दी की आज वैसी स्थिति होती यह टीक-टीक नहीं कहा जा सकता। यही है कि भक्त कवियों की परम्परा के समाप्त होने से हिन्दी के कवि फिर समूह साहित्य के पिछले स्वरूप में प्रभावित होकर उगवा अनुकरण करने लगे जिनके पत्रस्वरूप भाषा में भी सरलता तथा प्रौढ़ता का कोई परम्परा भावों की नवीनता तथा मौलिकता बहुत कुछ जाती रही।

उक्त कथन देने की दृष्टि से यह है कि हिन्दी साहित्य का समूह का अभाव, निराशा तथा पराधीनता का दृष्टि से है। हिन्दी के प्रागैतिक भाव में इस स्वतन्त्र अवस्था का, परन्तु उस समय तक उसकी स्वतन्त्रता में बाधाएँ पड़ने लग गई थी और उसके समूह आ-मर्यादा की कठिनीयता उपस्थित हो चुका था। देश के लिए यह हलचल तथा अभाव का दृष्टि था। उसके उपरान्त यह दृष्टि भी आया किन्तु देश की स्वाधीनता नहीं हो गई और देश के अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विदेशीय साम्राज्य की प्रतिष्ठा हो गई। तब से अब तक दोहरे-बहुत अन्तर में बँधी ही परि-
विष्टि बनी है।^१ हमारे समूह साहित्य में बरतने की जो यह हमारी

१. यह बात जिस समय लिखी गई उस समय भारत आज़ाद था, जब यह बात लिखी गई।—सम्पादक

यह है कि उत्तम कवि तथा कवि सामान्यतया स्वतंत्र होते हैं।
 यूरोपीय संगीत में मधुर प्रभिर ध्यान दिया गया है और गायकों के स्वर-
 जम्ब या गान की बहुत कुछ महत्त्वता की गई है। इन दृश्यों में प्रचलित
 प्राचीन काल में संगीत की उन्नति होती आई है और अनेक मधुरतापूर्ण
 प्रयोगों का निर्माण भी हुआ गया है। यहाँ का प्राचीन संगीत यद्यपि अनेक
 सुन्दर रूप में अद्यतन में मिलता है परन्तु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देश-
 भेदों के कारण उगरी 'देशी' नामक एक विभिन्न जाति भी हो गई
 जिसका विकास निरन्तर होता रहा। हिन्दी साहित्य के विकास-काल में
 'देशी' संगीत प्रचलित हो चुका था, अब उगम 'देशी' संगीत का बहुत
 कुछ पुष्ट पाया जाता है। इसके अनिश्चित रूपों और रागिणियों के अनेक
 भेदों का टीका-टीका अभिव्यक्ति करने की क्षमता जितनी हिन्दी ने दिखाई,
 साथ ही जितने सुचारु रूप में संगीत के अन्य अंगों का विकास उममें
 हुआ है वैसे अन्य किसी प्राचीन भाषा में नहीं हुआ।

हिन्दी की दो अन्य महत्वपूर्ण विशेषताएँ—हमारे साहित्य पर उन्-
 मुक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत-कुछ स्थायी है। इनके
 पतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिन्दी साहित्य के विकास
 से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है तथा जिनकी छाप हिन्दी साहित्य पर स्थायी
 नहीं तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिन्दी साहित्य
 के प्रारम्भिक युग के पहले ही समृद्ध साहित्य उन्नति की चरम सीमा
 तक पहुँचकर अद्यतन में पतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन-नवीन
 रचना-प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओं की जो
 प्रकृति होती है, उसका संस्कृत में अभाव हो चला था। अनेक रीति-प्रणालियों
 का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य में गतिशीलता रह ही नहीं गई
 थी। नियमों का साम्राज्य उसमें विराज रहा था, उनका उल्लंघन करना
 सत्वातीन साहित्यकारों के लिए असम्भव-सा था। वे नियम भी ऐसे-वैसे
 न थे, वे बहुत ही कठोर तथा कहीं-कहीं बहुत ही अस्वाभाविक थे। इन्होंने

पंडित साहित्य की स्वाभाविक प्रगति स्कन्धी गई थी और सम्भूत में जीवन की गति तथा उन्लास नाम मात्र को भी नहीं था । मस्तुत कविता अलबागे में नदी हुई जीवनहीन कामिनी निष्प्रभ तथा निस्मार हो चुकी थी । हिन्दी के सन्तन्त्र विकास के इस स्वरूप में बड़ी-बड़ी ग्कावटे डाली । एक तो इसके रूप हिन्दी काव्य का क्षेत्र बहुत-बहुत परिमित हो गया, और नदी भाषा भी स्वाभाविक रूप में विकसित न होकर बहुत दिनों विम्वित बनी रही । यदि हिन्दी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा से उपर्युक्त दुष्परिणामों का निवारण करने की सफल चेष्टा न की तो हिन्दी की आज कैसी स्थिति होती, यह ठीर-ठीक नहीं कहा जा सकता । यह है कि भक्त कवियों की परम्परा के समाप्त होने ही के बवि फिर सम्भूत साहित्य के पिछने स्वरूप में प्रभावान्वित उमका अनुसरण करने लगे, जिन्होंने पत्रस्वरूप भाषा में तो सरलता गौटना आ गई, परन्तु भाषा की नवीनता तथा मौनिकता बहुत तानी रही ।

ज्ञान देने की दूसरी ज्ञान यह है कि हिन्दी साहित्य का सम्पूर्ण युग 'न, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है । हिन्दी के प्रागम्भिक में देश स्वतन्त्र अवस्था था, परन्तु उम समय तक उमही स्वतन्त्रता घायल पड़ने लग गई थी और उमके सम्भूत आ मरणा का कठिन द्रव्य गत हो चुका था । देश के लिए वह हजबान तथा अज्ञान का युग । उमके उपरान्त वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतन्त्रता नष्ट गई और देश के अधिवाश भाग में विदेशीय तथा विजानीय शासन प्रविष्टा हो गई । तब से अब तक सोते-बहुत अन्तर से बंधी ही रहि-नि बनी है ।^१ हमारे सम्पूर्ण साहित्य में कल्या की जो एक हजबानी

१. यह बात जिस समय लिखी गई उस समय द्रव्य दायन्य था, अब यह बात गून्ही है ।—सन्पादक

अन्तर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणामस्वरूप है। पुरानी हिन्दी के समस्त साहित्य में नाटको, उपन्यासों तथा अन्य मनोरंजक साहित्याङ्गों का जो अभाव दिखलाई देता है, वह भी बहुत कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही जनका इतिहास हुआ। परतन्त्र देन और कर ही मचा सकता था।

अभिव्यक्ति का यह निराला रूप अपना स्वयंस्वरूप प्राप्त है। मोती के भीतर छारा जो जैसा नरकता हाता है वैसा ही कान्ति को नरकता अक्ष में नाशक होती जाती है। इन् नाशक का संस्कृत-तत्त्व में छारा और विच्छिन्न के द्वारा कुछ लोगो ने निरूपित किया था। गंध और अंगी स्वाभाविक वक्रता विच्छिन्न, अंगी अंगी कान्ति का गूढ़न करने है। इस वैचित्र्य का सृजन करना विदग्ध कवि का ही काम है। 'वेदव्यास-मगी भजिति' में गंध का वक्रता और अंगी का वक्रता और वाक्यान्तों में अंगी अवस्थित हाता है। यह रस्यच्छाया-नर-मगी वक्रता वंग में निरूप प्रत्यक्ष तक में होती है।

कभी-कभी स्वानुभव-संबंधीय वस्तु को अभिव्यक्ति के लिए मर्क-नामादिकों का सुन्दर प्रयोग इन छाया-मगी वक्रता का कारण हाता है— 'वे आँखें कुछ कहती है।' किन्तु ध्वनिकार न इसका प्रयोग ध्वनि के भीतर सुन्दरता से किया। यह ध्वनि प्रवन्ध, वाक्य, पद और वंग में दीप्त होती है। केवल अपनी भूमिमा के कारण 'वे आँखें' में 'वे' एक विविध लक्ष्य उत्पन्न कर सकता है। कवि की वाणी में यह प्रतीयमान छाया युवती के लज्जा-भूषण की तरह होती है। ध्यान रहे कि यह साधारण अलंकार जो पहन लिया जाता है वह नहीं है, किन्तु यौवन के भीतर रमणी सुतम थी की बहिन ही है, धूँधट वाली लज्जा नहीं। संस्कृत-साहित्य में यह प्रतीयमान छाया अपने लिए अभिव्यक्ति के अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है।

इस दुर्लभ छाया का संस्कृत काव्योत्कर्ष काल में अधिक महत्त्व था। आवश्यकता इसमें शाब्दिक-प्रयोगों की भी थी, किन्तु अन्तर अयं-वैचित्र्य को प्रकट करना भी इनका प्रधान लक्ष्य था। इस तरह की अभिव्यक्ति के उदाहरण संस्कृत में प्रचुर हैं। उन्होंने उपमाओं में भी आन्तर सारूप्य खोजने का प्रयत्न किया था।

‘निरहङ्कार-मृगाङ्कु’, ‘पृथ्वी गतयोवना’, सवेदनमिवाभ्वर’, भेष के लिए ‘जनपद-बधु-लोचन’ पीयमान या कामदेव के कुमुम शर के लिए ‘विश्वमनीयमाधु’ ये सब प्रयोग बाह्य मादृश्य में अधिक आन्तर-मादृश्य को प्रकट करने वाले हैं। इस प्रकार की अभिव्यक्तियाँ बहुत मिलती हैं। इन अभिव्यक्तियों में जो छाया की स्निग्धता है, नरलता है वह विविध है। अलङ्कार के भीतर आने पर भी ये उनमें कुछ अधिक है।

प्राचीन साहित्य में यह छायावाद अपना स्थान बना चुका है। हिन्दी में जब इस तरह के प्रयोग आरम्भ हुए तो कुछ लोग चौंके महीं, परन्तु विरोध करने पर भी अभिव्यक्ति के इस दम को दृष्टि करना पड़ा। कहना न होगा कि ये अनुभूतिमय आत्मस्पर्श काव्य-जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक थे। बाबु या शंभू की तरह यह सीधी व्यंग्यता भी न थी। बाह्य से हटकर काव्य की प्रकृति आन्तर की ओर चल पड़ी थी।

जब ‘वाह्नि-विवल बायो न मूर्च्छति चेतनाम्’ की विवशता वेदना को चेतन्य के साथ चिर-बन्धन में बाँध देती है, तब वह आत्म-स्पर्श की अनुभूति, सूक्ष्म आन्तर भाव को व्यक्त करने में समर्थ होती है। ऐसा छाया-वाद किसी भाषा के लिए शाप नहीं हो सकता। भाषा अपने सामूहिक सुधारों के साथ इस पद की ओर अग्रसर होती है, उच्चतर-साहित्य का स्वागत करने के लिए। हिन्दी ने आरम्भ के छायावाद में अपनी भारतीय साहित्यिकता का ही अनुसरण किया है। कुन्वर के शब्दों में ‘अनिर्वाण प्रसिद्ध व्यवहार मार्ग’ के कारण कुछ लोग इस छायावाद में अस्पष्टवाद का भी रंग देख गये हैं। हो सकता है कि जहाँ कवि ने अनुभूति का पूर्ण ग्राह्यत्व नहीं कर पाया हो, वहीं अभिव्यक्ति विभ्रान्त हो गई हो, शब्दों का चुनाव ठीक न हुआ हो, हृदय में उमरा स्पर्श न होकर मर्मिष्ठ ने ही मेल हो गया हो, परन्तु मित्रान्त में ऐसा रूप छायावाद का टीरा नहीं कि जो कुछ अस्पष्ट, छाया-नाम हो वाग्विज्ञता का स्पर्श न हो, दूरी

यावाद है। हाँ, मूल में यह रहस्यवाद भी नहीं है। प्रकृति विश्वात्मा छाया या प्रतिबिम्ब है, इसलिए प्रकृति काव्यगत व्यवहार में ले कर छायावाद की सृष्टि होती है, यह सिद्धान्त भी भ्रामक है। यद्यपि प्रकृति का आलम्बन, स्वानुभूति का प्रकृति से तादात्म्य नवीन काव्यधारा होने लगा है, किन्तु प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाली कविता को ही छायावाद नहीं कहा जा सकता।]

छाया भारतीय दृष्टि से अनुभूति और अभिव्यक्ति की भूमिका पर अधिक निर्भर करती है। ध्वन्यात्मकता, साक्षणिकता, सौन्दर्यमय प्रतीक-ध्यान तथा उपकार-व्रतता के साथ स्वानुभूति की विवृति छायावाद की शोषताएँ हैं। अपने भीतर से भोती के पानी की तरह आन्तर स्पर्श करके स्वयं समर्पण करने वाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमयी होती है।

साहित्य का मूल्य

[भा० गुलाबराय]

साधारण बोलचाल की भाषा में मूल्य शब्द का सम्बन्ध मोल-भाव या प्रय-विक्रय की मनोवृत्ति में है। उस शब्द के मुनते ही वर्तुलाकार रजनखण्डों का जिनका प्रत्यक्ष दर्शन आजकल कुछ दुर्लभ हो गया है या उनके प्रतीक-स्वरूप पत्र-मुद्राओं का आकर्षक रूप सामने आ जाता है। अंगरेजी भाषा में 'वैल्यू' शब्द का अर्थ हिन्दी की अपेक्षा अधिक व्यापक हो गया है किन्तु वहाँ भी वह आर्थिक व्यव्रजना में निर्मुक्त नहीं हुआ है, और शायद इसी कारण वे विगुद्ध कलावादी, जो कला की सब मूल्यों से परे मानते हैं, साहित्य के साथ मूल्य शब्द जुड़ा हुआ देखकर चौंक उठते हैं और कभी-कभी प्रभु ईमा-मगीह से आवेश में आकर कहने लगते हैं कि तुम लोगो ने साहित्य-जैसे पावन देव-मन्दिर को प्रय-विक्रय की हाट बनाकर रक्खा है। शायद ऐसी ही आपत्तियों से बचने के लिए भारतीय समीक्षा-शास्त्र में 'प्रयोजन' शब्द का व्यवहार हुआ है। प्रयोजन शब्द यद्यपि पर्याप्तरूपेण विस्तृत है और आर्थिक व्यव्रजना से मुक्त भी है तथापि वह मूल्य का ही आन्तरिक रूप है। मूल्य वस्तु के निर्माण के पश्चान् मिलता है। निर्माण से पूर्व वही मध्य-रूप से प्रयोजन कहना है। कलावादी तो मूल्य और प्रयोजन दोनों के ही विरोधी हैं।

ऐसे कलावादियों के शोभ की निवृत्ति के अर्थ हमको मूल्य शब्द के अर्थ पर विचार कर लेना आवश्यक हो जाना है। साधारणतया हम उसी वस्तु को मूल्यवान् कहते हैं जो या तो सीधे तौर में हमारे उपयोग में आ सके या हमारे लिए उपयोग की वस्तुओं को जुटा देने या भविष्य में जुटा करने की सामर्थ्य रखे। धन से मूल्य का प्रमुख रूप हमें निम्न माना

है कि उनके द्वारा हमको बहुत-सी उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती हैं। हम उपयोगी उगी वस्तु को कहते हैं जो हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति कर सके। कूड़ा-कचरा जब हमारी किसी आवश्यकता की पूर्ति नहीं करता तो अनुपयोगी समझा जाकर फेंक दिया जाता है, किन्तु वही जहाँ याद धनकर हमारे उद्यान के फूलों या गोभी-टमाटर के उत्पादन तथा उनकी पुष्टि और आकार-वृद्धि में सहायक होना है वही हमारी एक आवश्यकता की पूर्ति के कारण उपयोगी और मूल्यवान् बन जाता है। आवश्यकताएँ केवल भौतिक जगत् में ही सीमित नहीं रहती, वे मानसिक और आध्यात्मिक भी हो सकती हैं। जो वस्तुएँ इन आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं वे उपयोगी और मूल्यवान् कहलाती हैं।

[कलावादियों की कला भी जो उपयोगिता की अपावन गन्ध से परे समझी जाती है अपनी सौन्दर्य-जन्य प्रमत्तता देने की शक्ति और शमन के कारण उपयोगी कही जा सकती है। संगीत भी क्लान्त मन को विद्यानि देने के कारण उपयोगिता के क्षेत्र के बाहर नहीं। देश-सेवक अपने आदर्श की पूर्ति के लिए प्राणों की भी आहुति देने में आना-कानी नहीं करता। उसके लिए वे आदर्श ही मूल्यवान् हैं, क्योंकि उनकी पूर्ति में उसकी विस्तृत आत्मा को परितुष्टि होती है।] एक धार्मिक व्यक्ति घर-बार की चिन्ताओं को छोड़कर हरिभजन में मग्न रहता है, क्योंकि वह उसे अपने प्रियतम से मिलन का साधन समझता है। राजरानी मीरा ने अपने प्रभु गिरिधर नागर के लिए राजवैभव, लोक-लज और कुल-भर्यादा को तिताञ्जलि देना ही ध्येयस्कर और मूल्यवान् समझा था, क्योंकि उससे उसके आध्यात्मिक भाव की तुष्टि होती थी। कोई थकालु भक्त मासिक 'कल्याण' के लिए डाकिये की अधीर प्रतीक्षा करते हैं, और कोई व्यसनप्रिय-सज्जन टाइम्स और इण्डिया के "क्रॉस वर्ड पजल्स" के लिए न्यूज-एजेंट की दूकान के दिन में दस बार चक्कर लगाते हैं क्योंकि उन वस्तुओं द्वारा उनकी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

ध्यानि का गुप्त गीमाघात अन्तर उद्गामी है। उसकी सामाजिकता हमी का पक्ष है। हमी के कारण वह आचार धोर नीति के पक्ष में जाता है, यही प्रार्थना अनन्तता का अन्तर्गत ध्यानि कारण है। ध्यानि के मांगों ने हम अन्तर्गत की सामाजिक प्रार्थना का ध्यानि आधार माना है। भारतीय धर्मोपदेशों में इस प्रकार की प्रार्थना का आध्यात्मिक आधार माना है और उन्हीं सम्बन्ध विज्ञानमय बातों में ध्यानि दिया है। उसी आधार पर भारतीय धर्मशास्त्र की प्रतिष्ठा हुई। कुछ पारम्परिक दार्शनिकों ने भी 'गुरु-ईशा' अर्थात् पर-आत्मा माना है। ज्ञानन्दमय पदों हमें भी उँचा है। उसमें ज्ञान-ज्ञान-अंश की त्रिगुटी की प्रार्थना हो जाती है। बला अपने परम विराट् में हमी ध्येय की धोर अग्रसर होती है। इसीलिए हम को वाच्य की आत्मा माना है और उसे अज्ञानन्द धर्मोपदेश कहा है।

आज शायद हम ठीक दिगाने वाले मनुष्य के विरंगन को गुनने में थक गये होंगे और कहेंगे कि साहित्य में यह संसारी दार्शनिक राग क्यों छेड़ा गया। साहित्य मनुष्यिक जीवन है, जीवन का ही आत्म-चिन्तन है। जीवन की आवश्यकताओं को भूलकर हम साहित्य का चिन्तन नहीं कर सकते। हमारे यहाँ का साहित्य शब्द 'निःस्वार्थ' में कुछ अधिक व्यञ्जना रखता है। साहित्य में 'महिम्ना' 'इश्वर' होने का सम्बन्ध का भाव लगा हुआ है—“सह एव सहित तस्य भाव साहित्यम्।” दूसरी व्युत्पत्ति है “हितेन सह सहित तस्य भाव साहित्यम्।” साहित्य की इन्हीं दोनों व्युत्पत्तियों से हमको इन मूल्यों के प्रश्न को हल करने में सहायता मिलेगी। यह बात तो सभी मानेंगे कि जिसका जीवन में मूल्य है उसका साहित्य में भी मूल्य है। साहित्य के मूल्य जीवन के मूल्यों से भिन्न नहीं। अब प्रश्न यह होता है कि इनमें कोई सर्वप्रधान है कि जिसमें हाथी के पैर के समान सब के पैर आ जायें अथवा सब एक-सा महत्त्व रखते हैं और देवताओं के समान कोई छोटा-बड़ा नहीं? यह प्रश्न ठेका है। सब

लोग अपने-अपने पक्ष को महत्ता देकर अपनी-अपनी छपली पर अपना-अपना राग अनापने है। 'भिन्न रचिहि लोक' की बात इस समस्या को धीरे भी जटिल बना देती है। सब मनुष्यों को एक साथी से हम हाँक भी नहीं सकते। कुछ लोग तो प्रगतिवादियों के साथ यह कहेंगे कि 'भूखे भजन न होय गुणाना' और कुछ बिहारी के साथ कहेंगे "तवीनाद कथित राम गरम राग रतिरग, अनवृद्ध बूढ़े, निरे जे बूढ़े सब भद्र ।" मनोविज्ञान ने भी 'इन्ट्रोवर्ट' (अन्तर्मुखी) और 'एक्स्ट्रोवर्ट' (बहिर्मुखी) दो प्रकार के टाइप माने हैं। छायावादी शायद इन्ट्रोवर्ट बहलायेंगे और प्रगतिवादी एक्स्ट्रोवर्ट के अन्तर्गत आने हैं। ये दोनों टाइप किसी घण में एक-दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं, परिपूर्ण नहीं कर सकते। व्यक्तियों की व्यक्ति-सम्बन्धी और टाइपसम्बन्धी विशेषताओं को ध्यान में रखकर अब यह ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य के लिए भौतिक (प्राण-सम्बन्धी आवश्यकताएँ भी इसमें शामिल हैं) भावात्मक, बौद्धिक, सामाजिक (इनमें हम नैतिक आवश्यकताओं को भी शामिल करते हैं) और आध्यात्मिक आवश्यकताओं में किसी एक को प्राधान्य देना चाहिए या सब को। हमारे यहाँ जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के चार पुरोपाय माने गये हैं उनका भी इन्ही मूल्यों में सम्बन्ध है। धर्म में सामाजिक और नैतिक मूल्य आ जाते हैं, अर्थ का सम्बन्ध भौतिक मूल्यों से है, काम में मौल्य और बला सम्बन्धी सभी मूल्य सम्मिलित हैं, और मोक्ष में आध्यात्मिक मूल्य आ जाते हैं। यद्यपि ये सभी मूल्य अपना महत्त्व रखते हैं तथापि इनमें से किसी एक को भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। मोक्ष को चाह हम थोड़ी देर के लिए बाना-ताव रख दें, विन्तु इन तीन को हम नहीं छोड़ सकते और बरीब-बरीब तीनों का बराबर महत्त्व है। किसी एक को भी प्राधान्य देना जीवन का सन्तुलन बिगाड़ता होगा। महाशय पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र जी ने अपने भाद्र भरत जी को प्रश्नों द्वारा नीति का उपदेश देने हुए पूछा था कि बही अर्थ है धर्म या धर्म में अर्थ में तो बाधा नहीं पड़ती अथवा जान में धर्म और अर्थ में बाधा तो नहीं पड़ती ?

वत्सिधार्पणं वा धर्ममर्थं धर्मं वा पुनः ।

उभौ वा प्रीतिमोक्षेन कामेन न विजाग्रते ॥

इस प्रकार भीरामचन्द्रजी ने भरतजी को अपने जीवन में धर्म, मर्म, काम तीनों ही के समन्वय का उद्देश्य दिया था। यही समन्वयदृष्टि भारतीय दृष्टि है। हमारे यहाँ के काव्य-गमोत्तरों ने आनन्द में सब मूल्यों का समन्वय किया है। वे लोग यज्ञ और अर्थ के भौतिक उद्देश्यों में बरकरार-निर्वृत्ति के आध्यात्मिक लक्ष्य तक गये हैं।

काव्यं धर्मापेक्षं हते व्यवहारविदे शिवेतरक्षणये ।

साधुः परनिर्वृतये कान्तागमिन्नयोरदेशयुजे ॥

भामह ने भी काव्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन और बनाम वैशुष्य उत्पन्न करने वाला तथा प्रीति और शान्ति की प्राप्ति कराने वाला बताया है—

धर्मार्थकाममोक्षानां वैचक्षण्यं कलागु च ।

प्रीति करोति कीर्ति च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥

आध्यात्मिक मूल्य भौतिक मूल्यों में ऊँचे अग्रज है, किन्तु उनकी उपेक्षा नहीं करने। भौतिक मांगानों द्वारा ही आध्यात्मिक की प्राप्ति होती है।

साहित्य का मूल्यांकन भी हम इसी व्यापक दृष्टिकोण में कर सकते हैं। जो साहित्य हमको इन धर्म (नीति, आचार और आध्यात्मिक मान), अर्थ (भौतिक और शारीरिक मान) और काम (एषणाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ) कला और सौन्दर्य-सम्बन्धी मान) इन तीनों प्रकार के मानों के अथवा मूल्यों के समन्वय की ओर से जानता है, वही गत्साहित्य है। साहित्य का सहित का भाव है जो समन्वय-दृष्टि-प्रधान है। आचार्य बुतक शब्दोत्तर के साथ और वाच्य के वाच्यांतर के साथ मेल को कहा है —

“गाहिनी इत्यत्रापि यथायुक्तिः स्वजानीयायेत्याया शब्दस्य शब्दान्तरेण वाच्यस्य वाच्यान्तरेण च साहित्य परस्परस्पर्द्धित्व-संज्ञानमेव विवक्षितम् ।”

कुन्तल ने शब्द और अर्थ दोनों को ही महत्त्व दिया है । यथा—

शब्दाधी संहिता बन्नी बहिष्यापारसातिनी ।

बन्ने ध्यवर्षिणी काव्यं तद्विवाह्यादकारिणी ॥

इसलिए बन्नीतिवाद का बोरे अभिव्यञ्जनावाद से नादात्म्य करना उचित नहीं टहरता । साहित्य की दूसरी व्युत्पत्ति है, “हितेन सह सहित तस्य भाव साहित्यम् ।” साहित्य के दोनों ही अर्थ हमको समन्वयभाव और सांक-मगल की ओर ले जाते हैं । जो साहित्य मनुष्य-जीवन में उसकी सभी वृत्तियों और जीवन के सभी स्तरों में साम्य की ओर ले जाता है, वही हमारे लिए मान्य होगा । इस साहित्य को चाहे प्रगतिवाद कहे, चाहे छायावाद और चाहे समन्वयवाद ।

प्रगतिवाद ने आर्थिक मूल्यों को प्रधानता दी है । वह अन्य मूल्यों की यदि उपेक्षा करता है तो वह एकाङ्गी टहरकर इस आदर्श से गिर जाता है । छायावाद मनुष्य की कला-सम्बन्धी प्रवृत्तियों का पोषण करता है, वह शब्द-सौन्दर्य पर भी अधिक बल देता है । किन्तु वह भी आर्थिक मूल्यों की उपेक्षा नहीं कर सकता । आजकल के छायावादी प्रायः सभी इन आर्थिक मूल्यों की ओर संचित होने जाते हैं । कला-सम्बन्धी मूल्य अथवा सौन्दर्य के शब्दों में छायावाद का वास्तविक सौन्दर्य मूल्य-सौन्दर्य को पूर्णता प्रदान करता है । स्वयं सौन्दर्य भी एक साम्य है, जिसमें भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही का सम्मिश्रण रहता है । सौन्दर्य का आधार भौतिक है, किन्तु बिना मानसिक रुचि और आकर्षण के वह अपनी पूर्णता को नहीं प्राप्त होता है । रवीन्द्र बाबू ने इस पर ही कुछ कहा है—

“ओ वॉमन, डाउ आर्ट हाफ ड्रीम एण्ड हाफ रियलिटी ।”^१

1. “O, Woman !! thou art half dream and half reality”

जायेंगे। वे सौन्दर्य के ढाँचों के रूप में वर्तमान रहेंगे। कलाकार को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बिना वस्तु के ढाँचे छोड़ते और निर्मल्य होंगे और बिना ढाँचों के गाम्भीर्य बिखरी रहेगी और उसमें अन्विष्टि नहीं आ सकेगी। वाय्व की आत्मा रम ही रहेगी, किन्तु उसका छोट हडिबाद का अन्धकूप न होगा, वरन् जीवन का जिज्ञास और गतिशील निक्षेप होगा। अविष्य का कलाकार, जीवन के भौतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आध्यात्मिक धर्मों को जगता के सौन्दर्यपूर्ण ढाँचों में दालकर ग्रैव बनादेगा। वह सौन्दर्य को केवल वायवीय म रत्नर उमड़ो पृष्ठ और मातल बनादेगा और अचल सचा स्थूल में भी वायवी-सौन्दर्य की प्राणप्रतिष्ठा करेगा।

शुक्लजी और छायावाद

[भा. ० देवगढ़]

एक बात सभी स्वीकार करने है कि व० रामचन्द्र शुक्ल बहुत उच्च क्रांति के आलोचक थे। वेणु, छायावाद विषे कटाक्ष ? हमने अन्तर्निष्ठा है कि आलोचनात्मक दृष्टि के नीचे शुक्ल अद्वय है, यहाँ—

१—काल-वृत्ति के रस रस की श्रमणा,

२—काल-वृत्ति के रस रस अथवा नीरस बनाने वाले लम्बों का शैक्षिक निष्पन्न करने की शक्ति, और

३—श्रमणा के अन्तर्गत कृत्रिमता या मानवता की चेष्टा।

शुक्लजी में वे दोनों शक्तियाँ श्रमणाधिक मात्रा में वर्तमान थी, यही दो कुछ अधिक और, जापर, तीसरी कुछ कम। कुछ विचारों के एक अन्तर्निष्ठा समीक्षा के।

उपर का मत वैयक्त हमारा ही नहीं है। श्री मन्दसूतारे वात्रोपी के अनुसार 'साहित्य-समीक्षा' की विविध में सबसे बड़ी बात शुक्लजी में यह नहीं है कि उन्होंने उत्कर्ष के लक्षणों को निम्नतर में अन्तर्निष्ठा दिया, बल्कि उन्होंने यह जान दिया कि हम भी उस अन्तर का पहचान करें। ... शुक्लजी, जादवी और गुरु की समीक्षाओं द्वारा उन्होंने हिन्दी आलोचना को गुरु भूमि पर स्थापित किया। यह वनस्पति समा-लोचक शुक्लजी की व्यावहारिक एवं शैक्षणिक दोनों शक्तियों का संकेत करता है। श्री मन्दसूतारे ने लिखा है—'शुक्लजी की प्रतिभा अपरिमेय थी।

उनकी दृष्टि में अद्भुत गहराई, पकड़ में गजब की मजबूती, और प्रति-
पादन में अपूर्व प्रीति थी।^{१२}

यही एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है—इनकी उच्च कोटि के आलो-
चक होते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक हिन्दी साहित्य (अर्थात्
सृजनात्मक साहित्य) को कहाँ तक प्रभावित किया, वर्तमान हिन्दी के
बलाकार अथवा कवि कहाँ तक उनकी प्रणिभा से सामान्वित हो सके ?
इस प्रश्न पर विचार करने से एक विचित्र परिस्थिति सामने आती है,
यह यह है कि जहाँ आलोचक शुक्लजी का प्रायः सभी विचारणीय साहित्य-
प्रेमियों ने सोहा माना, वहाँ उनके समकालीन कवियों पर उनका विशेष
प्रभाव न पड़ा। कहा जा सकता है कि कवि अथवा बलाकार
आलोचकों से प्रभावित होकर मृष्टि नहीं करते। यह ठीक है,
अधिकांश बलाकार महान् आलोचकों से अप्रभावित नहीं रहते। बल्कि
स्थिति यह है कि समर्थ आलोचक परोक्षरूप में, पाठकों की रचि एवं
मूल्यांकन के निमित्तण द्वारा, समसामयिक लेखकों को प्रभावित करता है।
आश्चर्य की बात यह है कि शुक्लजी इस परोक्षरूप में भी समकालीन
छायावादी काव्य और उसके मूल्यांकन को प्रभावित नहीं कर सके। इसका
यह मतलब नहीं कि छायावाद की आलोचना में शुक्लजी को काफी ज्ञान
अनुयायी नहीं मिले, किन्तु वे अनुयायी और काफी प्रायः उन लोगों में
मिले जिनकी साहित्यिक मनोवृत्ति युग के अनुकूल नहीं थी और जो
अंधाधुन पुरानी रचि एवं विचारों के थे।

किन्तु यह शुक्लजी के सम्मुख में यह नहीं कहा जा सकता कि वे
आधुनिक विचारधाराओं में अनभिज्ञ थे। नयेन्द्र के शब्दों में उन्होंने
‘पाश्चात्य एवं पौराणिक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन किया था।’
वे पश्चिम के प्र० विन्डहोम जैसे नवीनतम समीक्षक-विचारकों से सुजति-

गित प। गाय ही—इस तिर नगन्द को उद्धृत कर रहे हैं—‘उन्होंने जो छायावाद पर प्रहार किए वे बारी समझ-बूझकर किए।’ तिर क्या कारण था कि उनके द्वारा की गई छायावाद की आलोचना लोगों को प्रताप न हुई थोड़े उमर का छायावाद की प्रगति पर प्रायः कुछ भी प्रभाव न पड़ा ? तिरों द्वारा में छायावाद की जो अन्वर्ति हुई है उसका मुख्य कारण प्रगतिवादियों का विरोध है, न कि शुक्लजी की आलोचना। (महर्षिपरिचयि इन बातों को निन्द करने की है कि शक्तिपूर्ण आलोचना कलाकारों को अग्रभावि नहीं छोड़ती।) शुक्लजी की इस प्रभावहीनता का क्या कारण था ? क्या इसका कारण शुक्लजी की कोई गम्भीर कमी थी, अथवा तत्कालीन काव्य के समर्थकों की अगुणसाक्षिता।

क्या छायावादी काव्य के अनुशीलन में शुक्लजी की अपूर्व समसाक्षिता, उनकी गम्भीर और पैनी अन्वर्ति, फँस कर गई थी ? अथवा वे नूतन काव्य के प्रति अपारण दृष्टि या अनुसर थे ? हमारी समझ में ये दोनों ही व्याख्याएँ ठीक नहीं हैं। शुक्लजी उन व्यक्तियों में थे जो हिन्दी के सर्वांगीण विकास के लिए निरान्त उत्सुक ही नहीं, प्रागर्ण ने प्रयत्नशील भी थे, और यदि वे छायावाद से मरने दम तक समझौता न कर सके तो इसका कारण यही था कि उनकी रस-साक्षिणी वृत्ति को उसमें गम्भीर कमियाँ दीख पड़ती थी।

शुक्लजी अपने समसामयिक काव्य-साहित्य एवं तरसम्बन्धी आलोचना को विशेष प्रभावित नहीं कर सके, इसके हमारी समझ में तीन मुख्य कारण थे—

(१) शुक्लजी के प्रतिपक्ष में विश्व-विभूत, नोबिल-पुरस्कार-विजेता, रवीन्द्रनाथ ठाकुर थे। रवीन्द्रिक काव्य को, जिसके अनुकरण में छायावाद का जन्म हुआ था, व्याप्ति और छाया के बिना वह शुक्लजी के विरोध को सहकर खड़ा रह सकता, इसमें सन्देह है। उस काल के हिन्दी

आश्चर्य की बात है कि साम्प्रदायिक रहस्यवाद के कड़े समीक्षक होते हुए भी शुक्लजी स्वयं साम्प्रदायिक ढंग की आलोचना में फँस गए। यह साम्प्रदायिकता और परम्परावाद कहीं-कहीं बहुत स्थूल हो गया है। उदाहरण के लिए उन्होंने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि भारतीय भक्ति-काव्य अथवा भक्ति-पद्धति रहस्यवाद का आधार लेकर नहीं चली और कबीर आदि का रहस्यवाद विदेशी वस्तु थी। किन्तु क्या विदेशी होने से ही रहस्यवाद हेय हो गया? आज के युग में यह मनोवृत्ति संगीर्णता-सूचक मालूम पड़ती है। इसी प्रकार शुक्लजी की यह सिद्ध करने की लम्बी-बोड़ी कोशिश कि अज्ञात अथवा अरूप के प्रति प्रणय-निवेदन नहीं हो सकता, उनकी बात सुनी जाने में बाधक सिद्ध हुई। 'जगत् का व्यक्त प्रसार ही भाव-संचरण का वास्तविक क्षेत्र है। इससे अलग मनुष्य-करण की कोई वास्तव सत्ता नहीं, वह असत्य है'—शुक्लजी के इस मन्तव्य में सत्य का काफी भ्रम है, परन्तु उसे उसके मिथ्याश से अलग रखना कठिन काम है। शुक्लजी के विरोधियों ने उक्त मन्तव्य के मत्याश को देखने की चेष्टा नहीं की, यह उन्हीं का दोष नहीं था।

यह अनिवार्य था कि शुक्लजी के विरोधी और छायावाद के समर्थक उनकी इन गलतियों से लाभ उठाते। उनके लिए यह सरल हो गया कि वे शुक्लजी की ऐसी धारणाओं की ओर सकेत एवं उनका सरलता में निराकरण करके यह कह सकें कि शुक्लजी ने छायावादी काव्य को समझने में भूल की है और उनकी मलम्बन्धी आलोचनाओं का विशेष महत्त्व नहीं है।

किन्तु यही छायावादी युग के माहित्यको से भूल हुई है। शुक्लजी की विवेचना भले ही कहीं-कहीं जमीष्ट सीमा लाँघ गई हो, पर उनकी सम्प्राप्तिता कभी बुद्धित नहीं हुई और यदि छायावादी कवि तथा आलोचक उनकी विविध समीक्षाओं पर ज्यादा ध्यान देते तो हिन्दी-

साहित्य को ज्यादा लाभ होता। तब छायावाद-युग में अधिक संप्राण काव्य-सृष्टि होती और उसका ऐसा नाटकीय पन भी ॥ होता। बात यह है कि जहाँ-जहाँ शुक्लजी ने छायावाद को प्रवृत्त काव्य की बगौटी पर बगने की चेष्टा की है, वहाँ उनकी आलोचनाएँ नितान्त मार्मिक और प्रकाश देने वाली हुईं। उनकी ऐसी आलोचनाएँ हमारी अपनी धारणाओं के बहुत निकट हैं। खेद यही है कि अपनी छायावाद सम्बन्धी समीक्षा के इस पहलू को शुक्लजी ने सर्वेक्षण ही किया, पल्लवित नहीं। हमारा विश्वास है कि उनकी ये सर्वेक्षण आलोचनाएँ छायावाद की प्रवृत्त बमजोंगियों का जितना गहन उद्घाटन कर रही है, उतना न तो 'काव्य में रहस्यवाद को सैद्धान्तिक समीक्षाओं में हा मचा है और न आधुनिक प्रगतिवादियों के बहुर-मूलक ज़िहाद में।

छायावाद की प्रवृत्त आलोचना में शुक्लजी ने जिन तीन-चार बातों पर जोर दिया है उनका महत्व आज भी अक्षुण्ण है। अब उनका विशेष अप्रामाणिक न होगा। छायावाद के समर्थकों ने (और उनमें महादेवी जी भी सम्मिलित हैं) इन आलोचनाओं का उत्तर देने की विशेष चेष्टा नहीं की। यह परिस्थिति जहाँ हम बात का प्रमाण है कि ये आलोचनाएँ आवश्यक और, स्पष्टता एवं चिन्तनात्मक आधार के साथ नहीं आईं, वहाँ यह दावा बात का भी निरूपण है कि अभी तक हिन्दी-आलोचना विशेषणायमर गृहमताओं ने बखतर खरना पाहती है और परमहंस स्थान निवृत्त-गर्जनिक और सभी-वर्गीय दर्शित दावों का मन्त्र देने की अभ्युत्थ है। शुक्लजी की अक्षिप्त महत्त्वपूर्ण विन्तु बम प्रसिद्ध आलोचनाएँ निर्मातृवित है —

(१) प्रथम शुक्लजी का कहना है कि छायावादो रीतियों में अनिश्चित का आधार है। हमें भय है कि हिन्दी-आलोचकों ने छायावादो बाध को हम बगौ के आकाश और विचार का सभी टोख अनुमान नहीं किया।

शुक्लजी ने भी विम्बून विश्लेषण द्वारा उसे हृदयगत कराने का प्रयत्न नहीं किया। उक्त दोष का कारण, उनकी मम्मति में, भावों एवं भावनाओं के अपहरण की प्रवृत्ति है (दे० रहस्यवाद, पृ० ७३)। किन्तु प्रवृत्ति साधारण कवियों एवं छायावाद के प्रारम्भिक काल में ही प्रकट हो सकती थी। इसके विपरीत "अगामञ्जम्य" नाम की चौथी छायावादी के श्रेष्ठ कवियों की प्रौढतम रचनाओं में श्रोतप्रोत है। अतः कमी का अधिक विशद विश्लेषण अनिश्चित था, इसलिए भी कि वह छायावादी अस्पष्टता का प्रचल अथवा अन्यत्र हेतु थी।

(२) छायावादी काव्य में शुक्लजी की दूसरी महत्वपूर्ण शिकायत है कि उसमें भावनात्मक सचाई (Sincerity) की कमी या अभाव इस सम्बन्ध में उन्होंने काफी कड़ी बातें कही हैं, जैसे—'जगत्-रूपी व्यक्तित्व से तटस्थ, जीवन से तटस्थ भाव भूमि, कल्पना की झूठी कला-कलाप, भावों की नकली उछलकूद और वैचित्र्य-विधायक कृत्रिम शब्द-संग्रह—जो आधुनिक रहस्यवादियों में अभिव्यञ्जनावादियों (Expressionists) के प्रभाव से आई है—थर्ड्सवर्थ और शैली की कविता का प्रभाव नहीं है।' यह उद्धरण 'रहस्यवाद' का है। 'इतिहास' के उद्धरण में इसी तथ्य की ओर इंगित करते हुए वे कहते हैं—'रहस्यवाद और अभिव्यञ्जन पद्धति पर ही प्रधान लक्ष्य हो जाने से भावानु-सृत कल्पित होने लगे।'।

(३) दूसरी शिकायत से ही सम्बद्ध शुक्लजी की यह आलोचना है छायावादी काव्य में हवाई कल्पना का अतिरेक है। इस कमी को उन्होंने 'कल्पना का कलापूर्ण और मनोरंजन नृत्य', 'कल्पना की कला-कलाप' आदि नामों से अभिहित किया है। वस्तुतः छायावादी काव्य का अङ्ग जिस केन्द्रगत समस्या के समाधान या स्पष्टीकरण पर निर्भर है वह यह है—काव्य में नियोजित कल्पना का क्या स्वरूप, स्थान

घोर मर्यादा है ? रमण तथा ऐनी दृष्टि के शुक्लजी को इसका आभास न हुआ हो ऐसा नहीं, बल्कि उन्होंने अनेक स्थलों में जिनकी तरह से इस समस्या पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है वह गहरे आश्चर्य और प्रशंसा का भाव जगाने वाला है। हिन्दी की उस अन्य विरगित अवस्था में—जब माननीय द्विवेदीजी जैसे सेखक मसहून कवियों की मूर्तों को हाद दिया करते थे—एक नितान्त उच्चकोटि की रमणाहिणी प्रतिभा ही ऐसे प्रश्नों में उत्पन्न हो या उपक्रम कर सकती थी। (इस दृष्टि में शुक्लजी का स्थान कालरिज जैसे दूने-गिने साहित्य-मीमांसकों के साथ है।) छंद की बात है कि शुक्लजी की आलोचना के इस अंश पर जिनका ध्यान दिया जाना चाहिए था, वह नहीं दिया गया और छायावाद के समर्थकों ने उगकी उपेक्षा की। शुक्लजी ने विख्यात था—“मनमाने आरोर, जिनका विधान प्रवृत्ति के सकेत पर नहीं होता, हृदय के मर्म-स्थल का स्पर्श नहीं करते, केवल वैचिह्य का कौतूहल मात्र उत्पन्न करके रह जाते हैं। छायावाद की कविता में बहुत-सा अप्रस्तुत विधान मनमाने आरोर के रूप में भी सामन आता है।” (इतिहास, पृ० ९१२-१३)। आश्चर्य की बात है कि छायावाद के किसी समर्थक ने शुक्लजी की इस नितान्त महत्वपूर्ण समीक्षा का उत्तर देने की कोशिश तक नहीं की।

(४) [शुक्लजी की आलोचना का चौथा पहलू यह है कि छायावादी काव्य प्रायः एक सकीर्ण घेरे में घूमता रहा; उनका नाना अर्थभूमियों में विस्तार नहीं हुआ। उन्होंने कुछ छायावादी कवियों के रहस्यवाद को साम्प्रदायिक अर्थान्तरिवाद भी कहा है। इसका मतलब यह है कि उस काव्य के सकेत उन्हीं को हृदयङ्गम और ग्राह्य होने जो विशेष दार्शनिक रुझानों को स्वीकार करने है। (सम्भवतः निराला जी की 'मीनिका' की रचनाएँ इसी कोटि की हैं)। रमानुभूति के लिए यह मानकर चलना बिना आवश्यक नहीं होना चाहिए कि अद्वैत अथवा कोई दूसरा याद

प्रत्येक गीत महत्त्वपूर्ण है, अटना की पराकाष्ठा है, शायद स्वयं विद्यादा के लिए भी ऐसा दावा अनिश्चयोक्ति प्रतीत होगा। हमके विपरीत साधारण व्यक्तिगत बाले बलि भी मानव जीवित को अपनी वाणी का विषय बनाकर महनीय मृष्टि कर सकते हैं। अब यदि शुक्लजी दाता मात्र कहते कि प्रगीत काव्य की सम्भावनाएँ मौमिन है तो वे धोखेबाज व दासों में रहते। किन्तु हमारे विपरीत उन्होंने यह कहा जाता कि गीत-काव्य का साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है जो अमरक था। विरोधन रस्य-वाद के क्षेत्र में जहाँ प्रभावित अनन्त मौन्दय एव रस का अधिष्ठान परिवर्तित होता है, गीत-काव्य की सम्भावनाएँ बहुत बड़ जाती हैं। अवश्य ही वहाँ यह बने रहती कि बलि की रस्य-भावना वास्तविक एव जीवित हो।

यहाँ यह कहना भी अप्रागर्भिक न होगा कि शुक्लजी विरुद्ध गीत-काव्य जो आत्मनिष्ठ होता है और बहिर्निष्ठ प्रबन्धोत्तर काव्य में जिसकी रूपरेखा मुक्तक जैसी होती है, शायद भेद नहीं देख सके। उदाहरण के लिए रीतिकालीन काव्य प्रबन्धरूप न होने हुए भी आत्मनिष्ठ नहीं है, और उसकी आधुनिक गीतकाव्य से कोई समानता नहीं है। अमरक और बिहारी दोनों ही बर्तमान, गीतों आदि की बोटि के बलि नहीं है और न वे पल्ल अथवा रवीन्द्र के ही समान-धर्मी हैं।

शुक्लजी की सामूहिक दृष्टि की आश्चर्यजनक मौमिनता एक दूसरी दिशा में भी दिखाई देती है—वे आधुनिक काव्यमय भावनाओं के ऐतिहासिक महत्त्व को विनशुन नहीं समझ सके। वे यह नहीं देख सके कि छायावाद, अपनी गह बसियों के बावजूद, आधुनिक मनोवृत्ति का दर्शक था। साफ़ पता है कि उन्हें विवेकी-दुष्ट की स्थिति परीक्षण करने-भावना से विनशुन बिरति न थी, और वे यह समझने में निराल अक्षम थे कि आज के भारतीय युग में अद्वयवाद तथा अनुचित दर्शन-काव्य के

सिए स्थान नहीं रह गया है। वास्तव में आज की सभ्यता और संस्कृति पूर्ण अर्थ में लौकिक है, उसका केन्द्र मनुष्य है, ईश्वर नहीं। छायावादी काव्य ने शिक्षित लोगों को आकर्षित किया, इसका एक प्रधान कारण उसका लौकिक स्वर था। छायावादी रहस्यवाद वास्तव में लौकिक प्रेम-काव्य ही है। वह पाठकों से विशेष धार्मिक भावना या विश्वास की अपेक्षा नहीं करता, इसलिए यह शकाशील एवं अविश्वासी पाठकों के लिए भी अप्राप्त नहीं है। इसीलिए हमें महादेवीजी द्वारा प्रस्तुत किया हुआ छायावाद का मण्डन और व्याख्या हास्यास्पद प्रतीत होते हैं।

‘इतिहास’ में वही-कही शुक्लजी ने छायावाद की प्रशंसा भी की तो उसकी साक्षणिक शैली को लेकर, यह भी उनकी सांस्कृतिक दृष्टि की परिमीमा और परम्परा-मग्नता का निदर्शन समझना चाहिए। अन्यत्र शुक्लजी ने स्वयं ही कवि देव के साथ ‘अभिधा’-सूक्त काव्य की श्रेष्ठता स्वीकार की है।

अन्त में हम बहते कि अपनी सब न्यूनताओं के होने हुए भी विगुड साहित्यिक दृष्टि से (अर्थात् उस दृष्टि में जो साहित्य में मुख्यतः रस और शक्ति की खोज करती है) शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत तथा मंचित छायावाद की आलोचना अब तक की सर्वश्रेष्ठ आलोचना है, ठीक उसी प्रकार जैसा तरह कि अपनी सब कमियों के बावजूद छायावादी काव्य हमारी भाषा में आधुनिक युग का प्रतिनिधि काव्य है। शुक्लजी की समीक्षा का सांस्कृतिक पक्ष भले ही कमजोर हो, किन्तु विगुड साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि में छायावाद का कोई भी दुसरा समीक्षक, फिर चाहे वह उमराव समर्थक हो या विरोधी, उनका समकक्ष होने का दावा नहीं

नया साहित्यिक दृष्टिकोण

[डॉ० हजारिप्रसार द्विवेदी]

इस युग में ज्यो-ज्यो भिन्न-भिन्न समुदायों की चिन्ताएँ एक-दूसरे के निकट आती गई हैं, त्यो-त्यो प्राचीन रुढ़ियों में उनका छुटकारा होता गया है। जिस प्रकार अन्यान्य शास्त्रों में, उसी प्रकार कविता, चित्रकला, मूर्तिकला आदि में भी, एक सार्वभौम भक्ति पर सारे ससार के मनीषियों का ध्यान केन्द्रित होता रहा है। नये वैज्ञानिक आविष्कार इसमें बहुत अधिक सहायक हुए हैं। एकदेशी कल्पनाएँ और उनकी पोषक परम्पराएँ टूट गई हैं, जहाँ नहीं टूटी हैं, वहाँ टूटने की घोर बड़ रही हैं। काव्य को समझने का भौगोलिक दृष्टिकोण जो उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपियन पण्डितों में एक बार अत्यधिक प्राधान्य प्राप्त कर गया था, आज बुरी तरह गलत धारित हुआ है। यद्यपि भारतवर्ष के सच प्रबुद्ध समालोचक अब भी इस व्याख्या का स्वप्न देखने रहते हैं—विशेषकर धार्मिक क्षेत्रों में—तथापि वह अपनी गतिशीलता खो चुकी है। इस दृष्टि से हमारे के इतिहास को देखने वालों ने मनुष्य के काव्य-नाटकादि मलिन कलाधर्मों में लेकर आचार-विचार-आहार-निद्रा आदि क्रियाओं तक को देश-विशेष की भौगोलिक परिस्थिति की उपज बताया था। भारतवर्ष-जैसे उष्ण कटिबंध देश में रहने वाले आदमी स्वभावतः ही आलसी, केवल कल्पनाशील, शमचोर और परलोभ-प्रवरण होंगे; पर माइबेरिया में रहने वाले का जीवन प्रवृत्ति में तड़ाई बनने में बीतेगा। उमरे सामने वास्तविकताएँ इतना बठोर रूप लेकर उपस्थित होंगी कि वह कल्पना-मिहार का अवकाश ही नहीं पा सकेगा। उनका साहित्य भी वैसा ही होगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि भौगोलिक कारण, जाति को विशेष रूप देने में बहुत-

कुछ कारण बन जाते हैं, पर यही सब-कुछ नहीं है। भाग्यवश में हम दृष्टि में देखने का सर्वाधिक विरुद्ध रूप माध्यमिक सम्मानों के उद्देशकों के मुख में गुनाई देता है। जब वे भारतवर्ष की मनी-माध्यमों में, यहाँ की धर्मप्राण जनता में यहाँ के धर्म पर कुर्बान होने वाले धर्मवीरों में कुछ ऐसी विशेषता बनाया करते हैं, जो यही है और वही हो ही नहीं सकती। हम दृष्टिकोण में जिनमें भी दुनिया देखी है, उन्होंने मनुष्य की अपेक्षा उमरी स्त्रियाँ को अधिक देखा है। अब जबकि स्त्रियाँ दूरने लगी हैं, भारत की मनी-माध्यमों में कोई ऐसी विशेषता नहीं दी जाती जो यूरोप की मनी-माध्यमों में न हो। यहाँ की धर्मप्राण जनता कभी भी ऐसी हड़ताल नहीं करती, जो हम या इंग्लैण्ड के बारम्बार में काम करने वाली जनता ने न की हो।

रीतिनाल की स्त्रियाँ जब बीमबी शताब्दी के कवियों के अज्ञान, उपेक्षा और विरोध के कारण दूर गईं, तो हिन्दी में भी अंगरेजी के 'रोमांटिक' कवियों का स्वर गुनाई देने लगा। अमहयोग आन्दोलन के बाद यह उत्तरोत्तर साफ होना गया। इन कवियों ने वास्तव जगत् को अपने अन्तर के योग में उपलब्ध किया; अपनी रचि, कल्पना और मुख-मुख में मूँधकर ससार को देखा। हिन्दी-कविता में सैकड़ों वर्षों में जिस वैयक्तिकता (Individuality) का प्रवेश नहीं हुआ था—जो भौगोलिक व्याख्या के अनुसार भारतीय मनीषी की विशेषता होनी चाहिये थी—वह एक ही धक्के में दरवाजा तोड़कर सामने आ खड़ी हुई। पिछले पन्द्रह वर्षों में भारतीय कवि की वैयक्तिकता ही प्रधान प्रतिपाद्य काव्य-सामग्री रही है। पर लक्षणों से जान पड़ता है कि उसके भी दिन गिने जा चुके हैं। अब तक कवि चाहे कल्पना के द्वारा इस जगत् की विसदृशताओं से मुक्त एक मनोहर जगत् की सृष्टि कर रहा हो, या चिन्ता द्वारा किसी अज्ञान रहस्य के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा कर रहा हो, या अपनी अनुभूति के बल पर पाठक के वामानन्तर्विलीन (उत्तेजित कर

रहा हो—सर्वत्र उसकी वैयक्तिकता ही प्रधान हो उठनी रही है। अत्यन्त आधुनिक वहि इस भावबुद्धि को पसन्द नहीं करता। यह वस्तु को आत्म-निरपेक्ष भाव में देखने को ही सच्चा देखना मानता है। यह बान उमके निबट मल्य नहीं है कि वस्तु को उमने कैसा देखा, बल्कि यह कि वस्तु उमके बिना भी वैसी है। इस वैज्ञानिक चित्तवृत्ति का प्रधान आनन्द कौतूहल में है, इसुक्तता में है, आत्मीयता में नहीं। और जैसा कि हम विषय के परिदृष्टि में देखा है विश्व का व्यक्तिगत आत्म भाव से न देखकर तद्गत और अनात्मक भाव में देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण में जगत् को देखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि हम दृष्टि का अधिक विनियोग आर्थिक परिस्थिति को समझने में किया गया है, या यों भी कहा जा सकता है कि समाज की वर्तमान परिस्थिति को आर्थिक-दृष्टिकोण में देखने का प्रयत्न किया गया है, तथापि यही उमका वास्तविक स्वरूप नहीं है। हमारी विचारधारा की वास्तविक नवीनता इस बान में नहीं है कि हमने समार को व्यक्तिगत चिन्तन-अर्थ की दृष्टि से देखा है या आर्थिक दृष्टि से—वस्तुतः व्यक्तिगत दृष्टि और आर्थिक दृष्टि का विरोध नहीं भी हो सकता है—बल्कि यह कि हमने समार को अपने मत्-अमत् के सम्बन्धों की दृष्टि में नहीं, बल्कि इन सम्बन्धों में मत्-बुद्धि के द्वारा देखने का प्रयास किया है। दोनों का अन्तर दोनों दृष्टिकोणों के विषय से समझा जा सकता है।

यह मानने में कोई शक नहीं होना चाहिये कि हमारी आधुनिक दृष्टि-भंगी यूरोपियन ममत्ता का फल है। हमने पहले हमारी दुनिया एक प्रवार से तय हो चुकी थी। हमारी मत्-अमत् सम्बन्धी धारणाएँ हमेशा के लिए मानो स्थिर हो चुकी थीं। यूरोप में भी ऐसा ही एक युग था। परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारों ने वहाँ के सोचने वाले आदिमियों के मन्त्रिण में एक प्रवार की अज्ञानता ला दी। किसी ने कहा है कि ग्योतिष का यह आविष्कार कि पृथ्वी समस्त ग्रह-नक्षत्र-मण्डल के केन्द्र में नहीं है

उपेक्षित रहा वह नदी में प्रधान स्थान प्राप्त करना गया। व्यक्ति को समझने के लिए भी उसके चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन की प्रधानता स्थापित हो गई। आदर्शवाद को इन दोनों बातों में छोट पड़नी। फ्रायड ने कहा कि मनुष्य वस्तुन वैसा नहीं है जैसा कि वह स्पष्ट ही दीख रहा है, प्रयत्न वह वैसा है जैसा कि अपने का चेष्टानुबंध नहीं दिखाता चाह रहा। चेतन के दाग नहीं, अवचेतन के द्वारा मनुष्य का पहचाना जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य के समस्त बाह्य, समस्त ज्ञान, समस्त धर्माचरण एक नये रूप में प्रकट हुए। हम अपने को वैसा समझ रहे हैं, वैसे नहीं है, हम दुनिया को जैसा देख रहे हैं, वस्तुन वह वैसी नहीं है। फिर समाज के जिनने सदाचार है, जिनने वायदे-कानून है, जो कुछ नैतिकता-विधान है, सब वस्तुन वैसे नहीं है। मार्क्स ने कहा कि इन विधानों का कारण कोई वास्तव सत्य नहीं है बल्कि आर्थिक परिस्थिति है। दोनों दृष्टियों से आपानन साधु दृश्यमान आदर्शवाद घोषा ही दीखने लगा। इस प्रकार मानवीय चिन्ता दूसरी बार अपने सस्कारों को साहसर देखने का प्रयास करने लगी। काव्य को, समाज को, धर्म को, राजनीति को—सबको उसने तद्गत और अनासक्त भाव से देखने का प्रयास किया। पहली चिन्ता में व्यक्ति प्रधान था, इसमें वह गौण हो गया। पहली में द्रष्टा प्रधान था, दूसरी में दृश्य प्रधान हो गया। पहली का दृश्य द्रष्टा के मन से विमुक्त होकर सामने आता था, दूसरी का द्रष्टा दृश्य के पीछे छिप जाता है। यही नया दृष्टिकोण है। इस दृष्टि से जैसा कि एक हसी आलोचक ने हाल ही में कहा है, अब तक कलाकार को वैयक्तिकता के प्रकाशन में, रीति-रिवाजों में, निजी कल्पनाओं में और स्मृति (abstract) चिन्ताओं में कला का बीजपन ही प्रकट हुआ है। और जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा था, दो कारणों से इस कविता को भाषा और शैली में भी परिवर्तन हुआ है। एक तो विषय को जब अनामसर और तद्गत भाव से देखा जाता है, तब स्वभावतः ही भावुकता को स्थान नहीं रह जाता।

यूरोपियन मस्तिष्क के ऊपर सबसे पहली और सबसे जोरदार चोट थी। उसकी ममस्न धार्मिक और आध्यात्मिक कल्पना, सारा पौराणिक विश्वास, समस्त रुढ़ियाँ इस चोट से तिलमिला गईं। विज्ञान प्रगति होता गया, धर्म-विश्वास सङ्कुचित। प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार अठारहवीं शताब्दी में ईश्वर और धर्म को पीछे धकेलता गया, अन्त में उन्नीसवीं शताब्दी में ये दोनों वस्तुएँ—‘कहिये तो भिन्न-न-भिन्न’—सम्पूर्णतया पृष्ठ-भूमि में आ गईं। पर मनुष्य अपने-आप पर अत्यधिक विश्वास-परायण हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी जिस प्रकार नास्तिकता-प्रधान युग है, उसी प्रकार आत्म-विश्वास-परायण भी। इस काल में सारे ससार में आदर्श-वादियों का प्राधान्य था। आज भी जहाँ कहीं बड़े-बड़े आदर्शवादी दीख रहे हैं, वे उसी शताब्दी के भग्नावशेष हैं। इन आदर्शवादियों ने ससार की वास्तविकता की तरफ नही ध्यान दिया, बल्कि अपना सारा ध्यान एक आदर्श दुनिया को गढ़ने में केन्द्रित रखा। जहाँ मनुष्य क्षुद्र स्वार्थ का शिकार न होकर सेवा का विधाता होगा, जहाँ धर्म मनुष्य का मार्ग-दर्शक न होकर मनुष्य द्वारा परिचालित होगा; जहाँ का सबसे बड़ा सत्य मनुष्य है। इस आदर्श के उन्नयन के साथ-ही-साथ आत्म-सापेक्ष दृष्टि अपने-आप अनजान में ही, प्राधान्य लाभ करती गई। अपनी भावनाओं के रग में दुनिया को रगकर देखने का अभ्यास बढ़ता गया। हिन्दी का वैयक्तिकता-प्रधान साहित्य उसी का अन्तिम प्ररोह था। पहले वह समाज-सुधार के क्षेत्र में दिखाई दिया और बाद में उसने अन्याय क्षेत्रों को भी घुरी तरह से आच्छादित कर लिया। न जाने किस अमूलदर्शी ने कविता में उसका नाम छायावाद चला दिया। परन्तु विचार की दुनिया में एक बार जो अगान्ति घुस गई थी वह फिर भी अगान्ति बनी रही। वैज्ञानिक अग्रगति ने बेचैनी बढ़ाने का ही कार्य किया। जीवन को देखने के दृष्टिकोण में फिर जबरदस्त परिवर्तन हुआ। मार्क्स और फ्रायड ने समाज और व्यक्ति को देखने का नया चश्मा दिया। समाज का जो अंश सर्वाधिक

[illegible]

ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक-जैसी गद्यमय भाषा लिखता है। दूसरे विषय की नवीनता को सम्पूर्ण रूप से अनुभव कराने के लिए वह जान-बूझकर ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करता है जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उस पर से प्राचीनता के संस्कार झड़ जायें। वे ऐसी उपमाओं, ऐसे रूपकों और ऐसी व्योम्तियों का व्यवहार करते हैं जो केवल नवीन ही नहीं, अद्भुत भी जंचें। ऐसे काव्य में मेटक और कुकुरमुत्ते केवल इसलिए व्यवहृत हो सकते हैं कि पाठक के चित्त को जोर से झकझोर दें, यद्यपि उसका अन्तर्निहित सत्त्व यह भी हो सकता है कि समुद्र और सूर्य अपनी महत्ता में जितने सत्य हैं उतने ही सत्य मेटक और कुकुरमुत्ते भी हैं। जब तक द्रष्टा अपनी रधि-अरुचि से साज कर दृष्टि को देखेगा तब तक वह इस महत्ता का अनुभव नहीं कर सकेगा।

परन्तु हम दृष्टिकोण का बहुत ही व्यापक प्रभाव स्वयं दृश्य या द्रष्टव्य पर पड़ा है। अब तक काव्य, साहित्य, नृत्य आदि सलित और धनात्मक कलाएँ अपने-आप में अध्येतव्य थी। अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान के साधन से हम इन्हें समझने का प्रयत्न करते थे। अब समझा जाने लगा है कि वस्तुतः ये स्वयं अध्येतव्य विषय नहीं हैं, ये साध्य भी नहीं हैं, ये साधन हैं। इनके द्वारा हम किसी और को समझ सकते हैं। पदार्थ-विज्ञान और भूगर्भ-विद्या की भाँति ये भी अपने आप में सम्पूर्ण नहीं हैं। फिर वह साध्य वस्तु क्या है, जिसकी साधना के लिए काव्य, नाटक और नृत्य-चित्र-मूर्ति-कलाएँ साधन हैं? वह जीवन है। जीवन को समझने के लिए ही यह सारा टंटा है। जीवन जिसकी उद्दाम सहरें नाना स्तरों में प्रवाहित होकर किसी अज्ञात दिशा की ओर भागी जा रही है। 'अपारे काव्य-ससारे' का प्रजापति कवि उन संकटों स्तरों में से एक स्तर है, जिसके रूप में जीवन-महासमुद्र की तरंगें प्रकट हो रही हैं। उससे हम समुद्र की उम्भीरता और उसके विस्तार की खोज पा सकते हैं, वह स्वयं ज्ञातव्य, गाम्भीर्य या विस्तार नहीं है। विश्व उस प्रकार गठित नहीं हो रहा है, जैसा कवि को रचता है बल्कि विश्व को जैसा रचता है वह वैसा ही उसके प्रतिफलित हो रहा है।

नयी कविता : नया सन्तुलन

[जयदीन गुप्त]

‘लोग बहुतों बड़े ही विनयान छन्दों या कृशों का भी प्रयोग करते हैं। कोई चौपदे लिखते हैं, कोई छ पदे, कोई ग्याह पदे। कोई नव पदे। किसी की चार सतरे गज-गज भर लम्बी ला हो सतरे का ही समुच्चय की। फिर ये लोग केंचुकी पछावली भी लिखते की बहुतों कुरा करते हैं। इस दशा में इनकी रचना एक अजीब गोरगुग्गुल्य हो जाती है। न उ शास्त्र की आज्ञा के कायम, न ये पृथ्वी की कविता की प्रणाली के अनुकूल, न ये सामान्याचारों के परामर्श की परवा करने वाले। इनका मूलमंत्र है—हम खुला दोंगर नरन। इस हमादानी को दूर करने का क्या इरादा हो सकता है, कुछ समय में नहीं आता।’

‘यह परिचर्चन और चर्चा का दुग है। सब विषयों में निरन्तर चर्चा परिचर्चन हो रहे हैं, कविता में चर्चा हो रही है और बड़े बड़े में हो रही है। हिन्दी कविता का तो एकदम बाधा-वत्य हो रहा है, दुर्गामी अन्धकारों की कविताओं में भी परिचर्चन हुआ है, पर हिन्दी में परिचर्चन का इस कुछ निराशा ही है। मैं परिचर्चन का विरोधी नहीं हूँ पर परिचर्चन में चर्चा समझ कर करना चाहिए, अनमाने प्रचार में नहीं। मेरे इस विरोध का क्या तात्पर्य है—हिन्दी की नवीन कविता में अन्ध-धारा ही नहीं कभी कुछ सदा है—अपरिचित है। यह कुछ बड़ रहे हैं यह तो सदा रहता है, पर क्या बड़ रहे हैं यह सदा में नहीं आता।’

उपरोक्त दोनो उद्धरणों के से स्पष्टा कि कविता में अन्ध-धारा का विरोध के ‘आयतन की कविता’ अन्ध-धारा के उद्घाटन के लिए दुर्गामी विरोध परस्पर चर्चा के एक अन्ध-धारा का एक दृष्टि है का उद्घाटन १९२८ में

मुजफ्फरपुर में होने वाले हिन्दी साहित्य सम्मेलन के समारोह पर मैं दिना
 ना । यह उम समय की प्रतिष्ठा का व्यक्त करने है जब छायावाद के
 रूप में हिन्दी कविता प्राचीन कवियों एवं माध्याम्यों ने बिड़ोह बानी
 हुई एक नया मोड़ में गयी थी । कविता आज फिर नयी दिना में मुह रही
 है । प्रतिष्ठा पुन प्रारम्भ हो गयी है । टीक उगी गरज, सगमग उन्ही
 शब्दों में, बेमे ही लगी का आधार मंदर, विष्णु अग्रिम गीत, अधिक
 आश्रित के साथ । दोनों स्थितियों की मुनता करने पर मगता है जैसे
 इतिहास का यह गतावली के अनुवाग में ही वृत्त को गुरा करता हुआ
 अपनी धुरी पर तीव्रता में घूम गया हो । बटु आरोंग घोर अनर्गल आनो-
 चनाओं के विरुद्ध उम समय का बिड़ोह नागीन नहीं हुआ, आज भी नहीं
 होगा । नयी कविता का भविष्य, यदि वह वास्तव में नयी है और कविता
 है, तो हर युग में उग्रवम रहा है, आगे भी रहेगा । बेरी इग मय पर
 अहम आग्या है हिन्दी कविता का भविष्य

[मैं कविता को मानवीय चेतना की अत्यंत अभिव्यक्ति का श्रेष्ठतम
 रूप मानता हूँ । उसे मनुष्य मात्र की मान्यता कहा गया है । जीवन के
 गहन से गहन पहलुओं तक उसकी व्याप्ति है । इमोशनल जीवन की अनस
 गहराइयों में होने वाले परिवर्तनों की छाया साहित्य में सबसे पहले कविता
 पर ही पड़ती है । युग-मानस के सूक्ष्मतम आवर्तनों-विवर्तनों का परिवर्ण
 शब्दों, अर्थों, भावों और विचारों के नये सतुलन से मिलता है । कविता
 ऐसे प्रत्येक सतुलन के साथ नयी होती रही है । आज जो सतुलन घटित
 हो रहा है वह अब तक होने वाले सतुलनों की अपेक्षा अधिक तलस्पर्शी,
 अधिक मौलिक है क्योंकि मानव-व्यक्तित्व को इतना अधिक महत्व किसी
 युग में नहीं मिला और न उसके आगे मानवता के सामूहिक निर्माण और
 विनाश का प्रश्न ही इससे अधिक उग्र होकर आया है] किसी बाह्य शक्ति के
 स्थान पर अपना भाग्यविधाता वह स्वयं है और उसके निर्णयों के साथ
 समस्त मानवता का भविष्य जुड़ा हुआ है, इस बोध ने उसे नया व्यक्तित्व

प्रदान किया है और मन के सूक्ष्म स्तरों तक ले जाकर कदाचित् इसी बोध ने व्यक्ति-व्यक्ति के बीच की दूरी को भी बढ़ा दिया है। व्यक्ति की इस महत्ता के साथ-साथ एक व्यापक सामाजिक दायित्व का उदय इस युग की सर्वप्रमुख विशेषता कही जा सकती है। व्यक्तित्व का घेरा इतना अधिक फैल गया है कि सम्पूर्ण मानवता के साथ और जय की समस्या उसके अपने जीवन और मरण की समस्या बन गयी है फलतः आज के नये माहिस्य का यह विशिष्ट विरोधाभास है कि वह अनुभूति में व्यक्ति-निष्ठ होकर भी उद्देश्य और दृष्टिकोण में अधिकाधिक सामाजिक होता जा रहा है। सामाजिकता जब कृत्रिम रूप से कवि के व्यक्तित्व पर आरोपित की जाती है तो मायकाष्की की तरह वह आत्महत्या कर लेता है। नयी दिशा में चलने वाला आज का एक तरण कवि भी कुछ ऐसा ही सोचता है—'बिक जाने के प्रथम चरण की गोंद बहेगा।' अब कवि न राजाधन्य प्राप्ति के लिए 'आखर' जोड़ता है और न किसी धार्मिक सम्प्रदाय के आगे आत्मसमर्पण करके ईश्वर, गुरु या देवता की कृपा अर्जित करने के लिए 'पद' रचता है। राजनीतिक मतवादों के पारस्परिक सघर्ष की छाया उमकें मानस पर अवश्य पड़ती है किन्तु आज वाक्य-प्रेरणा का मूल स्रोत उमकी अपनी चेतना है, त्रिमूर्ति समर्पण यदि होता है तो जीवन के महज मत्स्य के आगे ही होता है। कविता इसीलिए कवि-प्रगल्भ न होकर व्यक्तिगत हो गयी है किन्तु जैसा निर्दिष्ट किया जा चुका है, कवि का व्यक्तित्व स्वयं विस्तृत एवं समाजोन्मुख होता जा रहा है अतः कविता में भी बीसे ही सत्कार व्यक्त हो रहे हैं। परिवर्तित स्थिति और मानव व्यक्तित्व के महत्त्व को आज का जागरूक कवि अपने भीतर बराबर अनुभव करता है। स्टीफेन स्पेंडर की कविता 'ट्रायल आफ ए जर्ज' में उच्चतर नैतिकता का आवह, पैंड की नग्न 'मुझमें पहने सी मोहब्बत मेरे महबूब न माँ' में अनिरक्त दायित्व के प्रति सजगता और अजेय की कविता 'आज तुम शब्द न दो न दो' में दृढ़ संबन्ध शक्ति मिलती

है। इन धीरे इन जंगी अन्य अनेक कविताओं में देश-विदेश में सर्वत्र काव्य के बदलने हुए स्वर को पहचाना जा सकता है। शायद ही किसी युग में कवि इतना चिन्ताग्रस्त रहा हो। जीवन के शोभन-अशोभन, शिर-अगिर सभी पक्षों तक उसकी दृष्टि जाती है इसीलिए आज कविता उसके लिए मात्र आनन्द की वस्तु न होकर धीरे भी कुछ है। नयी कविता में शोभ, ध्वंग्य धीरे कंकशता को देखकर कुछ काव्य रगिर उदाम हो जाने हैं। उन्हें सोचना चाहिए कि जब जीवन के धग होंगे के कारण काव्य में जुगुप्सा, शोक, प्रोध धीरे भय आदि विकर्षणात्मक भाव भी ग्राह्य हो सकते हैं धीरे उसकी मृष्टि कर सकते हैं तो शोभ आदि को ही क्यों अप्राह्य माना जाय। मराठी के कुछ रम-विवेचको ने 'प्रशोभ रस' की कल्पना की भी है। वस्तुतः इस तरह से सोचने के लिए एक व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता होती है जो प्रायः कम मिलता है।

चेतना की परिधि के विस्तार तथा कवि-व्यक्तित्व के विकास एवं स्वातन्त्र्य का परिणाम काव्य के रूप में करना अनिवार्य है धीरे उचित भी क्योंकि रूप-विधान सदा युग विशेष की मन स्थिति को प्रतिबिम्बित करता आया है। वैदिक साहित्य के छंद सस्कृत के महाकाव्यकालीन छंदों की अपेक्षा अधिक उन्मुक्त और अधिक ऋजु प्रकृति के थे। सामंती सत्कारो धीरे स्मृतियों की व्यवस्था से पग-पग पर नियोजित परवर्ती समाज के छंद, गण-विधान से मुक्त अतिव्यवस्थित वृक्षों के रूप में सम्मुख आये। सस्कृत वृक्षों में जो तुकान्त का अभाव मिलता है वह आज की सौ स्वतंत्रता की मनोवृत्ति का परिणाम नहीं था क्योंकि जहाँ अक्षर-अक्षर का गुरता-लघुता मूलक क्रम तक निर्धारित हो वहाँ तुक का होना न होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। इसका यही तात्पर्य हो सकता है कि उस युग में जीवन किसी एक छोर पर न बंध कर सम्पूर्ण रूप में बंधा हुआ था। प्राकृत अपभ्रंश साहित्य में लोकव्यापी जीवन की तरलता से जिन छंदों की सृष्टि हुई उनमें सगीतारमक

एवं समस्त मानव की प्रकृति में एकल देखा किन्तु परिस्थिति होती है
 वर्गीकृत उनमें कुछ का विधान है। अन्य छात्रों में वे तार जीवन की
 प्रकृतिमानों का महत्त्व अभिव्यक्ति प्रदान करने हैं। आधुनिक युग तब
 कुछ परिवर्तनों के साथ सुगमता यही मानव-मन का विधान बनता
 रहा। अब नवीन परिस्थितियों के आधार में वह तर्क पड़ने लगा है।
 परम्परागत अनुभव तथा कृति में माध्यम में नवीन अनुमानों का अधिक
 समय तब व्यक्त नहीं किया जा सकता। वर्गीकृत कविता में विभिन्न
 प्रकार के जीवन बंधन चमक दूर हो जा रहे हैं। आधुनिक रूप में
 जब बंधन भाव स्वतन्त्रता का अनुभव करने लगता है तो वास्तव में
 कृति में बंधनों को वह आवश्यकता से अधिक प्रथम नहीं देखता।
 पतनी ने तब युग-दृष्टि की तरह छायावाद-काल में ही 'युगवाणी' के
 'अपराध' कहने की घोषणा कर दी थी, तब जबकि 'छंद के बंध' और 'प्रास
 के रजतपाश' पूरी तरह छुल भी नहीं पाये थे। आज छुलने के स्थान
 पर वे धरमराकर टूट रहे हैं। छंदों की नयी-सुखी एकरवर्ता (मोनोटोनी)
 के विपरीत विविधता और विषमता, यहाँ तक कि विभूषणता भी आने
 लगी है। सगीतात्मकता और नैयता के प्रति भी एक प्रकार की प्रतिक्रिया
प्रारम्भ हो गयी है, यद्यपि 'तार मय' का रूपक संगीत के क्षेत्र से ही
 लिया गया है। यह स्थिति विश्वव्यापी है इसीलिए इसे युग के मानसिक
 परिवर्तन में ही सम्बद्ध करना होगा। नयी कविता का रूप-विधान भी
 नयी मन स्थिति के अनुरूप नया सतुलन खोजना हुआ विकसित हो रहा
 है। जिस प्रकार आज के जीवन में अनावश्यक बंधनों एवं विधिनिषेधों
 के प्रति अरवि दिखाई देनी है उसी प्रकार छंद-विधान में भी स्वतन्त्रता
 का आग्रह अधिवाधिक व्यक्त हो रहा है। कव्य की शक्तिमत्ता और महत्ता
के साथ कथन की पचासम्भव अहतिमत्ता हम युग की कविता की एक
विशेषता बनी जा सकती है। कृत्रिमता से मुक्ति पाने की वृत्ति ने ही
 कदाचित् नयी कविता को कुछ क्षणों में मर के समीप ला दिया है किन्तु

इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि-कर्म सरल हो गया है। वस्तुतः अकृत्रिम
 रूप-विधान अधिक कलात्मक दायित्व की अपेक्षा रखता है क्योंकि उममें
 मुख्य भाव वस्तु की कमजोरी को आच्छादित करने के उपकरण कम से
 कम होते हैं। कदाचित् इसीलिए कहा गया है 'गद्य कवीनां निर्वर्ण
 वदन्ति।' (नयी कविता के प्रसंग में संस्कृत का उद्धरण देखकर भड़कने
 वाले कृपया क्षमा करें)। यहाँ यह भ्रान्ति किसी को नहीं होनी चाहिए
 कि नये कवि, कविता से पद्य का बहिष्कार करके उसे गद्य बनाना चाहते
 हैं। वास्तव में कविता गद्य और पद्य दोनों से ऊपर है। जिस तरह गद्य
 और कविता में अन्तर है उसी प्रकार पद्य और कविता में भी भेद है। पद्य
 में मिखा हुआ सभी कुछ कविता नहीं हो जाता। बी० बी० सी० से प्रमा-
 रित और एनकाउटर में प्रवाणित एक परिमवाद में जेम्स स्टीफेन्स और
 विलेन टामस जैसे पारिचात्य कवियों ने भी इस सध्य की ओर संकेत दिया
 है। यदि कहा जाय कि पद्य कविता की सबसे पुरानी और गहरी
रुढ़ि है तो अत्युक्ति न होगी। निगलाजी ने इसे स्रवसोर दिया था।
 नयी कविता इसे तोड़ कर आगे बढ़ रही है इसीलिए इनका हाहारा
 मच रहा है। वह पुरातन राजसी जडाऊ रूप मन्त्र को छोड़कर अब
 गूँ-धन में प्रवृत्त हो रही है। पद्य की आवश्यकताएँ और मर्यादाएँ
 भाषा के अनुकूल ही हों, वह आवश्यक नहीं है। प्रत्येक कवि इन सत्य
 में परिचित है कि जहाँ छंद-प्रवाह तन्मयता उत्पन्न करके भाषा को
 सँवारता है, अप्रत्याशित उत्पत्तियाँ कराना है वहाँ बहुत से गद्य छंद-
 निर्वाह, पाद-गति और मुक्तान्त के लिए भी माने पड़ने हैं। छंद में बाधने-
बाधने भाषा का रूप कुछ-का-कुछ हो जाता है। पद्य-रचना एक कौशल है
 जिसका प्रदर्शन मध्ययुगीन कवियों के लिए गौरव की बात थी किन्तु आज
 यह कोई इनकी बड़ी शक्ति नहीं रही कि उगने के लिए मूल रूप को रिक्त
 हो जाने दिया जाय। नया कवि पद्य, छंद-छोड़ कर मुक्त को स्वीकृत रूप में
प्रस्तुत न करने आवश्यकमानुसार इनका प्रयोग करना चाहता है। उगना

आपह अनुभूति की सचाई और अभिव्यक्तिगत ईमानदारी पर अधिक है।
 इसीलिए वह ऐसे माध्य रूप को अपनाता है जो उसके कथन की प्रकृति
 के अनुरूप हो अथवा जिसके मन की समिति स्थापित हो, वास्तविक सौंदर्य
 भी बाह्य समिति में न रह कर आन्तरिक समिति में ही निहित रहता है।
 कविता के लिए मैं तय को अनिवार्य मानता हूँ। तय से ही समीक्षा-
 त्वबता उत्पन्न होती है और छंद की भी सृष्टि होती है। विन्तु तय शब्द
 की ही नहीं, अर्थ की भी हो सकती है। आज जब कविता इस अर्थ की
 तय को पकड़ कर खड़ी है तो छंद का स्थूल रूप पीछे छूट जाता है। जो
 उसके स्यात्मक अर्थ नस्ब पर ध्यान नहीं देने उन्हें वह गद्य ज्ञान
 पड़ता है। आज यदि कवि नयी अभिव्यक्ति-शक्ति लाने के लिए नये
 रूपों की धोर झुक रहा है तो यह आरोप करना कि पद्य-रचना करने में
 वह असमर्थ है, उसके प्रति अन्याय करना है; क्योंकि वह उस मार्ग पर
 चलने के बाद ही नयी दिशा की धोर मुका है। उसका सारा त्याग विभी
 उपलब्धि के लिए है, यदि वह उपलब्धि नहीं होती तो निश्चय ही उसके
 प्रयत्न को (प्रयोग को नहीं क्योंकि उसकी तो ग्यति ही अब तक नहीं
 आती) निरर्थक माना जावेगा। साहित्य-मूलन के विशाल क्षेत्र में नयी
 सम्भावनाओं को लाने में थोड़े से प्रयत्नों का निरर्थक जाना कोई बड़ी
 बात नहीं है, विन्तु हममें यह कभी मिट नहीं होता कि नयी दिशा में
 जाने का प्रयत्न ही पाप है।

नयी कविता के प्रति मेरा दृष्टिकोण अतिशय धीरे धीरे का नहीं
 है। मैं उसमें उन तन्त्रों को पाता हूँ जिनके द्वारा अर्थ और भाव की
विशेष शक्ति मिलती है। श्री जगजिन्द के इस विचार में कि भावों कविता
 की प्रकृति रूपा-प्रकृति होगी, बहुत कुछ सत्य प्रतीत होता है। नयी
 कविता खाली के पद्य को प्रयत्न करती हुई उसी धोर प्रयत्न कर रही
 है, ऐसा मुझे लग रहा है।

नया कवि छंद को संवारने की अनेक दृष्टियों को देख रहा है।

करना, उगते रूप का उभागने और अनभूति के मूल शक्ति को गगन बनाने का विशेष प्रयत्न करना है। नाट्यपूर्ण कामन शब्दों को गीतिका न करने का भाव, मध्य एव विचार मूल को तीव्रता से गहरा करने और उगे तीव्रतर बनाने की धार प्रवृत्त पाता है। उदात्ताकरण के ग्यान पर यह भावों में घेने का और गीतिका गान की चेष्टा करता है। उगते रूपन में इमीति का गीतिका प्रायः अधिक मिलता है। नयी कविता में यौटिका के साथ पर मैं अन्य (आलोचना धरु मात) विचार कर चुका है जिसे यही दोहराने की आवश्यकता नहीं।

कविता के समानान्तर गीतिका और कथा के अन्य रूप भी बढ़ रहे हैं, विशेष रूप से मूर्तिरत्ना और चित्रकला के क्षेत्र में जो परिवर्तन हुए हैं और हो रहे हैं उन्हें देखकर नयी कविता के मर्म को और भी अधिक सूक्ष्मता से समझा जा सकता है।

पद्मसिंह शर्मा के जिस भाषण का प्रारम्भ में उद्धृत किया गया है उसी में उन्होंने एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही थी और वह यह कि "छायावाद के नाम में हिन्दी में जितनी कविताएँ प्रकाशित हो रही हैं उनमें यदि एक भी अच्छी कविता है तो उगी एक कविता में हमें छायावाद की परीक्षा करनी चाहिए।" मैं पाठकों के आगे यही प्रस्ताव नयी कविता के सम्बन्ध में करता हूँ। जो अशक्त है उसकी चिन्ता करना व्यर्थ है, वह तो वैसा ही नहीं जायेगा किन्तु जो इतना शक्ति-मन्मत्त है कि युगों पुरानी रुढ़ियों को तोड़ डाले, उसको बिना सोचे-समझे उपेक्षित अथवा लाञ्छित करना, न केवल अन्याय है बल्कि अपराध भी है।

नयी कविता का सामाजिक परिवेश

[डॉ० रघुवंश]

नयी कविता के सम्बन्ध में प्रचलित पूर्वाग्रहों के बीच समीक्षा का दायित्व अत्यन्त कठिन जान पड़ता है। पक्ष-विरक्ष में विभाजित पूर्वाग्रहों से न केवल समीक्षामक दृष्टि धुंधली हुई है, बरन् बान्धावर्ण में तनाव भी पैदा हुआ है। तेसी स्थिति में समीक्षा का सन्तुलित आधार पा जाना बहुत सरल नहीं है। पर जिस क्षण मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि आज की कविता के सम्बन्ध में पक्ष-विरक्ष झट्टन नहीं करता, पूर्वाग्रहों को स्वीकार नहीं करता, उसी क्षण यह सारा कुहामा अपने आप कट जाता है। लेकिन प्रारम्भ में ही मैं यह कह देना चाहूँगा कि प्रत्येक युग में जो कुछ कविता के नाम पर लिखा गया है वह कविता नहीं मिट हो सका, और आज 'नयी कविता के नाम से जो कुछ लिखा जा रहा है या छन रहा है, आगे नयी' विशेषण मिट जाने पर उसमें में पना नहीं किनना कविता मिट हो सकेगा, यह भविष्य ही जाने।

सबसे बड़ा प्रश्न-चिह्न जो नयी कविता के विषय में लगाया जाना है वह है उसकी असामाजिकता। कहा जाता है कि नयी कविता व्यक्ति-प्रधान है। उनका कहना है कि यह कविता अनिवैयक्तिक तथा अमामा-जिक है। हम धारणा के मूल में यह भावना निमी-न-रिमी रूप में निहित है कि आज की यह कविता यूरोप में पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ होकर द्वितीय महायुद्ध तक चलने वाले विभिन्न वादों में प्रभाव ग्रहण करती है। प्रश्न के हम पक्ष पर मैंने 'हिन्दी काव्य की विभिन्न प्रवृत्तियाँ' की भूमिका में विचार से विचार किया है। सम्पूर्ण नये कवियों में हम कोटि का अन-माजिक व्यक्तिवादी नहीं है किम कोटि के

कवि और समाजक दृष्टि में विभिन्न बाहों के जन्मगत हुए हैं। कुछ समाजिक दृष्टि की गिच्छी परिस्थिति में हमारे देश की भाव की परिस्थिति की सामान्य प्रतिनिधि बनने की कोशिश करते हैं, पर जो सामान्य परिस्थिति होती है वह सामान्य में अधिक सामान्य-मात्र है। हमारे देश का ऐतिहासिक प्रम मित्र परिस्थितियों के बीच में अलग हुआ है, और हमारे सामूहिक चरित्रगत भी अनेक दृष्टियों में भिन्न रही है। इस ऐतिहासिक दृष्टि की गिच्छी सामान्य भाव-धारणा यही बाध में पहुँची है कि हमारा देश का प्रभाव कम हो चुका है।

परन्तु यह भी सच है कि हमारे देश के जीवन में एक बहुत बड़ा मोड़ हम नये युग में उपस्थित हुआ है। प्रायः मोड़ सचानि युग होता है, जिनमें पुराने और नये के बीच मध्यम अनिवार्य हो उठता है। यह मध्यम विषयक सगता है, पर हमारे बीच में गुजर कर पुराना नये का निर्माण करता है। पुरानी आस्था, पुरानी मर्यादा और पुराना विश्वास नयी आस्था, नयी मर्यादा और नये विश्वास को जन्म देता है। पहले युग का सांस्कृतिक जीवन विच्छिन्न होकर नये युग की सांस्कृतिक उपलब्धियों की भूमिका तैयार करता है। क्योंकि इतिहास साक्षी है कि सगर की प्रायः सत्कृति अपने चरम उत्कर्ष के बाद पतनोन्मुख होकर विच्छिन्न हो गई है और अतीत की सत्कृति, कला, साहित्य तथा दार्शनिक चिन्तन आगत युग को विरासत में दे जाती है।

इस युग के नवागत विचारों तथा बदलते हुए आदर्शों की पीठिका पर हम काव्य में वस्तु-सत्य अथवा प्रतीति को लेकर अनेक प्रवृत्तियाँ यूरोप तथा इंग्लैंड के पिछले काव्य की मित जायें तो आश्चर्य नहीं। इस में विचारों का तीव्र आघात और सघर्ष, भावों का सज्जित उल्लास, उपचेतन मन के नानाविध प्रभावों का वर्णन समान रूप मिल जाता है। उसी तरह इसमें नवीन अनुभूतियों, मानसिक

अन्तर्द्वन्द्वों, विचारान्तरों मध्यों तथा यथार्थ गत्य को झेलने की आन्तरिक पीड़ा को व्यक्त करने के लिए पुरानी व्यञ्जना शैली के प्रति विद्रोह भी है। स्पष्टतः इसका कारण देश के व्यापक जीवन का मोड़ है सन्नान्ति है जो पिछले युगों के विध्वंस पर नवीन युग का निर्माण कर रही है।

[इस सन्नान्ति युग में निर्माण के अद्भुत घटुओं से अधिक ध्वंस के अवशेष दिखाई देने लगे तो आश्चर्य क्या। समस्त युग-चेतना को संवेदिन करके उमड़ते अभिव्यक्ति का रूप देने वाले कवि का दायित्व इस युग में सबसे अधिक जटिल और असाध्य हो गया है। उमड़ते इस युग के समस्त मध्य, विषमता, विशृङ्खलता को झेलना ही होगा। यदि वह झेल नहीं सकेगा तो युग उमड़ने संवेदिन नहीं हो सकेगा। यह उमी का दुस्तर कर्तव्य है कि सन्नान्ति-मानवीय मध्य और ध्वंस को छाती पर झेल कर नये युग की आस्था और उसके विश्वास को जन्म दे। फिर इस बदलती हुई परिस्थिति के अनुकूल अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम खोजना भी आज के कवि के लिए अनिवार्य हो उठा है।]

यहाँ अभिव्यञ्जना के रूप और शैली के प्रश्न की जान-बूझ कर छोड़ा जा रहा है, क्योंकि हमारे सामने मूल प्रश्न सामाजिकता का है। आज का कवि केवल अभिव्यक्ति के सौन्दर्य-मात्र को अपना लक्ष्य स्वीकार नहीं करता। वह अधिक गम्भीर सामाजिक उत्तरदायित्व को मान कर चलता है। आज का कवि व्यक्तिवाद को घेरे अपना नहीं मानता। पर स्वीकार करने अथवा न करने से समस्या का समाधान नहीं होता। प्रश्न है कि आज की कविता में कुष्ठा, निराशा, अवसाद, आदेश दुरुहता, अस्पष्टता, विशृङ्खलता आदि का कारण क्या है? इस स्थिति से दो प्रकार के निष्कर्ष सामान्यतः निकाले जाते हैं। कुछ तो कहना है कि यह सब पश्चिम की नकल है, आरोपित भावशीलता मात्र है। इन आरोपों की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ये जितने पश्चिम की रचनाओं से अपरिचित हैं उतने ही नयी भावशीलता की परछाई में कच्चे

भी हैं। दूसरों का कहना है कि यह घोर व्यक्तिगत दृष्टिकोण का परिणाम है, पसायनवादी मनोवृत्ति है। इन मतवाजियों के विचार में सत्य का आभास अधिक है और आभास इसलिए कि उन्होंने अपनी बात स्थापित करने के लिए वर्तमान कविता को गलत दृष्टिकोण का आधार प्रदान किया है। सत्य इसलिए कि त्रिम यूरोप की कविता से हम कविता को अनुप्राणित माना लिया गया है यह घोर व्यक्तिवादो तथा पसायनवादी कविता थी। जो नयी कविता में केवल कृष्ण, निराशा तथा आस्थाहीनता आदि देखने हैं, ये या तो इस कविता के सम्पूर्ण व्यापक अर्थ को ग्रहण नहीं कर सके हैं अथवा जान-बूझ कर किसी उद्देश्य में स्वीकार नहीं करना चाहते हैं।

पहले ही हम बात का निर्देश किया गया है कि यूरोप पिछले युग में जिस सन्नान्ति की स्थिति में गुजरता आ रहा है उसमें और अपने देश की वर्तमान सन्नान्ति की स्थिति में अन्तर है। यूरोप में १९वीं शती के विज्ञानवाद से उत्पन्न अनास्था जितनी गतिशील, प्रवेगपूर्ण थी उतनी ही गर्वप्राही भी, साथ ही उसके मानववाद का आधार भी नियंत्रण था। इसके विपरीत इस देश की आज की अनास्था पिछले युगों की जड़ भ्रम आस्था के प्रति गहरा विद्रोह है। यूरोप की समस्या आस्थाहीनता है तो हमारे देश का प्रश्न आस्था की जड़ता का है। शताब्दियों से इस देश का जीवन अपनी पिछली सांस्कृतिक मर्यादाओं में जकड़ कर बँध गया है। युग बदले, जीवन धारा आगे बढ़ी पर ऊपर जमी बर्फ के समान ये मर्यादाएँ ज्यों-की-त्यों बनी रही। सैकड़ों वर्षों के बाद १९वीं शती के अन्तिम चरण के जाग्रण में हमको लगा कि हमारे इन सांस्कृतिक मूल्यों और मर्यादाओं पर गहरी कार्रवाई जम चुकी है, उनकी सारी उज्ज्वल चमक जाती रही है। फिर भी विदेशी साम्राज्यवाद के अन्तर्गत हमारा विश्वास बना हुआ था कि इस कार्रवाई के नीचे मूल्यवान् सिक्के हैं। परन्तु पहले महायुद्ध के बाद से ज्यों-ज्यों देश के स्वतंत्रता-सपना का रूप स्पष्ट होत

गया, उमी के साथ यह भी स्पष्ट होता गया कि कोई छूट जाने पर भी इन पुरानी मूल्य मर्यादाओं में चमक जेप नहीं रह गई है। इस नए आगत युग में इनको नेवर आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

इस स्थिति में हमको यूरोप से प्रेरणा और प्रवाश मिलने की सम्भावना हो सकती थी, राष्ट्रीय जागरण के दौरान में देश ने ऐसा बिचा भी था और ऐसा नहीं है कि इस दिशा में प्रयत्न बिचा हो न गया हो परन्तु दो कारणों से ऐसा सम्भव नहीं हो सका। देश की ध्वारक जीवन-धारा का प्रवाह दूसरी धाराओं के नियम में शामिल या नियंत्रित नहीं हो सकता, मनुष्य और मनुष्यगत उपलब्धियों की बनने नहीं लगती, वे जीवन के विकास-क्रम में अपने आप स्थापित होती हैं। हमारे अनिच्छित यूरोप की सम्पत्ता और मनुष्य की चमक-दमक के अन्तर्गत में स्वयं मध्य और विषमता पाए रही थी जिसका विस्फोट द्वितीय महायुद्ध था। परिणामस्वरूप यह युग अथवा जड़ता का युग है जिसमें समस्त सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक मान्यताएँ झूठी पक गयी हैं। हम मध्य और आदर्श की खोज बहुत कर रहे हैं, और ऐसा जान पड़ता है कि हमारे पास इसका बहुत बड़ा आधार है, बहुत बड़ी परम्परा है। परन्तु समाज की यह निष्प्रियता ने इन समस्त आदर्शों को खोखला बना दिया है। हम धर्मनिष्ठ हैं, आदर्शवादी हैं, मानवतावादी हैं, पर सब कुछ होकर भी यह आन्तरिक निष्ठा का क्रम हममें नहीं है जो जीवनधारा की अद्वितीयता है। यह समाजवादी बुद्धि, निराशा, अहसास तथा अथवा आस्था का परिणाम है कि हम इन सबसे आसुरी अन्तिम स्वार्थी, बेईमानी, घुमसुमारी, भोखेबाखरी, अहमंशता से अनेक की बचाने में असमर्थ हैं। हम सामाजिक जड़ता में न नदर रखे हैं और न हीर, न स्थिति और न अतिशय, न उच्छ्वस और न निम्नस्व ही। यहाँ ऐतिहासिक कारणों की विवेचना जान-बूझ कर नहीं की गई है, बेचन ऐतिहासिक का रूप या उपस्थिति बिचा गया है।

आज की इस सामाजिक परिस्थिति ने कवि को संवेदित किया है। यह इस संवेदाही जड़ता और मृष्टा का अनुभव अपने जीवन में कर रहा है। यह मृष्टा बनामनवादी न होकर परिस्थिति-जन्य है। उसके मन का सघर्ष, विगमता, आघेज, विशृंखलता सभी इस सामाजिक परिस्थिति का संवेदन है। समाज जिस परिस्थिति में अनायास पड़ा हुआ है, उसका अनुभव यह बहुत अस्पष्ट रूप में कर पा रहा है। कवि उस परिस्थिति से टकरा रहा है और यह सन्नान्तिकालीन स्थिति का स्वयं लक्षण है। नदी के प्रवाह पर जमा हुआ बर्फ़ समान रूप से सारे जल-विस्तार की गति को रोक देता है। पर उसकी बाधा का एहसास अन्तर्वर्ती धारा को ही होता है, यह उसको फाटने का दुर्दम प्रयास करती हुई टकरा कर नीचे से बहती है। आज के कवि का सघर्ष, उसकी आशा-निराशा-जन्य कुष्टार्थ व्यक्तिगत से अधिक सामाजिक है। उसके विषय में सबसे बड़ी बात यह कही जा सकती है कि यूरोप के पिछले कवियों के समान उसने अपने भविष्य को खोया नहीं है, कम से कम उसका भविष्य का विश्वास बना हुआ है। यह ठीक है कि इन कवियों में मार्ग खोजने का सघर्ष ही अधिक परिलक्षित होता है और यह आगे बढ़ कर निर्माण के पथ को प्रशस्त करने वाले सघर्ष से बढ़ा नहीं है, फिर भी इस मोड़ पर यह सघर्ष कम महत्त्व का नहीं है।

द्वितीय कविता के सम्बन्ध में अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रश्न है सामाजिक प्रेषणीयता का। यह पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि आज का कोई भी कवि इसको अस्वीकार नहीं करता। परन्तु आलोचकों का सबसे अधिक आक्षेप इसी बात पर है। मुझे लगता है कि आज की साहित्य-वर्षा में सबको अधिक उत्तम और भ्रम की स्थिति साधारणीकरण तथा समाजीकरण के प्रश्न को लेकर है। साधारणीकरण के माध्यम से अनेक बार समाज की भावशीलता के समस्त स्तरों को समान मान लिया जाता है और समाजीकरण के रूप में साहित्य तथा लोक-साहित्य को समान स्तर

का स्वीकार कर लिया जाता है। युग जीवन की विचागत्मक तथा भावात्मक उपलब्धियों के बाहक साहित्य को जनता के निकट पहुँचाने और उसकी वस्तु बनाने की बात और है और समस्त साहित्य को लोक-साहित्य के स्तर पर उतार लाना बिल्कुल भिन्न बात है। नदी के सम्पूर्ण प्रवाह के जल का ऊपरी स्तर समान होता है, पर तल की गहराइयों में अन्तर होता है, मूल धारा की गति और सामान्य प्रवाह की गति में अन्तर होता है। मूल धारा सम्पूर्ण प्रवाह से भिन्न नहीं है और न उसका कोई अन्य अस्तित्व है। पर साथ ही सम्पूर्ण प्रवाह को नियोजित और गतिशील करने वाली मूल धारा ही होती है। आज की कविता का कवि युग चेतना की मूलधारा का अंग है और उसकी आकुलता की सवेदनीयता मूल धारा तक ही सीमित जान पड़ती है। परन्तु धारा समग्र प्रवाह की गति का अक्षण है, प्रतीक है और इसी प्रकार नयी कविता का सम्बन्ध युग में है, समाज से है। वह आज के युग के सपनों को झेलने वाली चेतना का स्फुरण है, और उसकी प्रेषणीयता भविष्य के विश्वास तथा आस्था को जन्म देने की पीड़ा सहने वाली की वस्तु है। ऊपर की जमी हुई बर्फ की जड़ता को तोड़कर बहने वाली धारा के वेग का अनुभव अतल की गहराइयों नहीं कर पाती हैं, उनके लिए परिवर्तन तथा गति का कोई अर्थ नहीं। और न उस वेग का अनुभव कट कर अलग हुए सैवार से आकुलित स्थिर-प्रवाह जल-खंड ही कर पाते हैं। यह धारा तो सारे प्रवाह की गति को अनायास ही नियोजित करती हुई आगे बढ़ती जाती है।]

नयी काव्य-व्यंजना की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

[लक्ष्मीकान्त वर्मा]

नयी कविता की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के साथ आधुनिक युग के मानव-जीवन की विपाक्त, जर्जरित एवं कठोर परिस्थितियों का एक विशद सम्बन्ध है। आज का युग खासकर के दो महान् युद्धों की पृष्ठभूमि में रख कर देखने से ऐसा लगता है कि मूल्यों और आस्थाओं की वह परम्परा जो आज से बीस वर्ष पूर्व ग्राह्य थी, आज के जीवन-वृत्त से बिल्कुल ही पृथक् है। यही नहीं, विगत परम्पराएँ, मान्यताएँ और प्रतिमान आज के जीवन की स्थितियों को सहन करने में पूर्णतया असमर्थ भी हैं। लेकिन इससे बढ़कर भयकर स्थिति यह है कि विगत मान्यताओं के खण्डित होने के साथ अधिकांश लोगों की जीवन-दृष्टि में केवल दो ही चीजें व्याप्त हैं, पहली तो विगत परम्पराओं के प्रति मोह और दूसरी वर्तमान के प्रति असंतोष। यह सत्य है कि आज विगत जीवन का सम्पूर्ण नष्ट-भ्रष्ट हो चुकने के बाद उन नयी आस्थाओं को तेजी से प्रतिष्ठित होना चाहिये या जिनका जन्म इस सक्रमण में हुआ है। लेकिन ये नयी आस्थाएँ यदि काल के क्रमिक विकास के साथ विकसित होती तो सम्भवतः आज का व्याप्त भ्रम अधिकांश रूप में न पैदा होता। ऐसा न होने से वह मूल्य और वे आस्थाएँ केवल उस विशत वातावरण में दूबी सी लगती है लेकिन उनका विकास अन्धकार के गर्भ में ही रहेगा, ऐसा कहना अनुपयुक्त होगा। आज यद्यपि एक ओर अतिवादी टोटे लिटेरियन-इज्म और पूर्वनिश्चयवादी प्रवृत्तियों का हास उन्मुख दिग्भ्रम जनित अप-वादों के साथ स्वच्छ मानवीय चिन्तन को दुविधा और आशका के वाता-वरण से ग्रहीत करना चाहता है, लेकिन इन सबके बावजूद आज वह

है। मानविक मूल्यों के विपरीत और नई आस्थाओं के प्रस्तुत में मानविक मानों का नष्ट होना प्रतीत होती है। उसकी बहुत सी मान्यताएँ टूटती हैं और उनके स्थान में नयी सम्भावनाएँ विकसित होती हैं।

मानविक रूप धार के मान्यताएँ जो सामन्तवादी और मध्यकालीन परम्परा से श्रवित थीं, अचानक टूटती होने लगीं। प्रमाण के लिए रीति के प्रति मोह मध्यकालीन युग की एक डेन थी, जो आधुनिक युग में मनुष्य के व्यापक जीवन के दान मानविक को बहन करने में असमर्थ पड़ ही गई। मनुष्य के व्यक्तित्व की बहुत सी अवलोकनाएँ विज्ञान ने मिटा दीं। जीवन का प्रदेग भी कलने निकलने लगे। परिणामस्वरूप उन आस्थाओं की हत्या हो गई जो अब भी अधोऽधोऽधो और दैविक विश्वास पर अवलम्बित थे—

अर्थः नये आस्था

सहृदि के सहृदि के

नये सम्मान के बहने

नये सम्मान का संग्रह बर

इसी तरह से बह सरता है।

दुर्भाग्य एवं दुर्भाग्यपूर्ण परिस्थितियों में नैतिक रूप से यह परिवर्तन हुआ—

१—धर्मवादी मान्यताओं की स्वीकृति इस नये धर्मशास्त्र का मूल सत्य है। उदात्त एवं सुख दैविक मान्यताएँ स्वयं विचार कर धर्मवादी सोचों की ओर अग्रसर होने लगीं।

२—मानविक मूल्यों की स्थापना नीति ने व्यक्ति की सामर्थ्य की

अंग मान कर चेतना नई कविता का केन्द्र बिन्दु है। जहाँ एक

विचार का समावेश कर आत्मिक को प्रथम देता है, वहीं साम-

वादों व्यवस्था ने भी उसी आतंक को प्रथम देना चाहा। परिणामस्वरूप नयी कला रचि इन दोनों से अधिक व्यक्ति के प्रति निष्ठावान होकर रहने में आस्था प्रवृत्त करने लगी।

३—रीतिगत व्यवस्था के जाल में मानव व्यक्तित्व की हीनता मनुष्य को अपमानित प्रतीत होती थी। इसीलिए उसका विद्रोह और आत्म-रक्षा का स्वर यथार्थ के साथ मिलकर अधिक प्रौढ़ रूप में व्यक्त होने लगा।

४—भावनाओं की स्वतन्त्र सत्ता में कलाकार की आस्था आरोपित अथवा बाह्य प्रेरित मतवादों से अधिक आत्म सूचित तत्त्वों से प्रेरित होने लगी। वैयक्तिक स्वतन्त्रता को जहाँ वह सामाजिक आवश्यकता समझता था वही भावनाओं की स्वतन्त्रता में वह अपनी आत्म-आस्था के प्रति अधिक निष्ठावान भी होने का प्रयास करने लगा।

५—नैतिक स्तर पर भी मूल परिवर्तनों में अन्तर आना अनिवार्य था। नैतिकता की सापेक्षता व्यक्ति से है या समाज से या शासन सत्ता से या निरपेक्ष मूल्य से—ये कुछ ऐसे प्रश्न थे जिन्होंने नयी विचारधारा को प्रेरित किया।

६—यहीं पर उस अहम्वाद का भी विकास हुआ जिसने आधुनिक अभिरुचि को साधारणीकरण एवं समाजीकरण के साथ प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की। यह चेष्टा इस बात की विद्रोहात्मक भावना की अभिव्यक्ति थी कि मनुष्य केवल यत्नवत् चलना नहीं चाहता। उसकी एक अपनी निर्जीव चेतना है जिसे समाज और साधारण अभिरुचि के साथ सम्बद्ध होना है। अस्तु, नई कला के भाव-बोध में शैक्षिक तत्त्व की प्रधानता इसी अहम्वाद की देन है।

अंशेय : नयी व्यञ्जना :

रहने दो, वह नहीं तुम्हारा
केवल अपना हो सकता जो

मानव के प्रत्येक अहम् में सामाजिक अभिव्यक्ति पा चुका ।

इन परिस्थितियों में यह अनिवार्य था कि अपनी अभिजात मनो-भावनाओं को व्यक्त करने के लिए आज का कवि नये शब्द, नयी व्यंजना, नया सौन्दर्य बोध, नये प्रतीकों और बिम्बों का प्रथम ले, उनको नये रूप और नये प्रकारों से व्यक्त करे। इस नयेपन के पीछे वह मनोवैज्ञानिक स्थिति है जो कलाकार को घिसे-पिटे शब्द, टूटी-फूटी व्यंजनाओं और प्रतिमानों को तोड़ कर सर्वथा असस्कारी शब्दों, विशुद्ध प्रतीकों और बिम्बों का आधार लेकर अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए बाध्य करती है। यही कारण है कि छायावाद की शब्दावली और नयी कविता की शब्दावली में जमीन और आसमान का अन्तर है। छायावाद या उसके बाद के काल की शब्दावली, प्रतीक और बिम्ब आज की मन स्थिति को व्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण विशृंखल एवं भावव्युत्त हो गये थे।

सबेद रूप से इन समस्त स्थितियों का जो प्रभाव समूचे जीवन पर पड़ा उसने इस बात के लिए बाध्य किया कि आज के अनुभव के उपयुक्त शैली और शिल्प का भी निर्माण हो। शिल्प सौष्ठव का वह भाव और वह मन्तव्य जो हमें ऐतिहासिक या छायावादीकालीन कविता में मिलता है, वह आज के विशृंखल अस्त-व्यस्त जीवन के भार को कभी वहन ही नहीं कर सकता था। इसीलिए जहाँ नयी कविता को समझने के लिए रुचि और बोध के साथ सद्भावना होना आवश्यक है वही उसके साथ वास्तविक सन्दर्भ और दृष्टिकोण को भी ग्रहण करना आवश्यक है। यही नहीं, उसके साथ उस ऐतिहासिक सत्य को भी ध्यान में रखना जरूरी है जो देश और काल की परिस्थितियों का निर्माण करता है, जो एक विशेष प्रकार की धारणा को प्रथम देकर उस मनोवैज्ञानिक सत्य को

उद्घाटित करता है जिससे अनुभवों के स्तर में ही नहीं बल्कि अभिव्यक्ति के माध्यमों में भी बहुत बड़ा परिवर्तन आ जाता है ।

नयी कविता की पृष्ठभूमि में इन्हीं कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का प्रभाव है जिन्होंने आधुनिक कला विज्ञानों का सर्वथा नया उद्घाटन का माध्यम में व्यक्त करने का प्रयास किया है । वस्तुतः अन्य किसी भी नए प्रवृत्ति की नयी कविता भी नयी मानसिक स्थितियों अनुभवों और संवेदनात्मक तथ्यों से आवृत्त है । विचारबोध और सम्बन्ध निष्ठा दोनों ही नए स्तरों पर आवर सर्वथा नये में भगने लगने हैं । ऐतिहासिक नयी कविता की प्रवृत्ति तम प्रवृत्तियों इस बात की ओर है कि परम्परा में बहुत कुछ रखा है जो चेतनाहीन, निष्प्राण, निर्जीव प्रेम-वाक्यान्ता उद्गम के उन उद्गम तथ्यों से विपदा हुआ है जो स्वयं न होने के कारण दूसरी स्तरों और अर्थ की सम्भावनाओं को नष्ट कर रहा है । उन समस्त अभिव्यक्तियों कवियों के प्रति नयी कविता का मनोवैज्ञानिक अन्वेषण उद्भव है । क्योंकि ज्ञान-बोध का मूल स्तर संवेदन और उस संवेदन में निहित अर्थ और सम्बन्ध का बोध है । यदि कोई भी संवेदनात्मक नये स्तरों का प्रवृत्ति करने में असमर्थ है जो देश और काल की दृष्टि के साथ विवर्तित होती है तो उसका महत्त्व कुछ नहीं के बराबर ही हो जाता है ।

इस अन्वेषण में 'साव' का यह मत था कि प्रत्येक ज्ञान का एक स्तर ही भाव स्तर है । प्रत्येक संवेदनात्मक स्तर और दूसरा स्तर है । ज्ञान में होने वाले ऐतिहासिक विवर्तनों के आधार पर विवर्तित होने के लिए एक ऐतिहासिक स्तर की प्रवृत्ति ऐतिहासिक स्तरों के संवेदन स्तरों पर । ज्ञान का ही बचन है कि ज्ञान का स्तर बड़ा स्तर दूसरा स्तरों में विवर्तित होगा है और विचार स्तर अन्वेषण के विवर्तित होने है ऐतिहासिक स्तर, प्रत्येक बोध-स्तर अन्वेषण के स्तरों में स्तरों । ज्ञान-बोध के आधार पर है—१. संवेदन २. स्तरों

अर्थ, ३. विचार कल्पना, ४. अनुभव, ५. मानसिक स्तर पर अन्तर-चेतना की सापेक्षता । अर्थात्

१—आज की संवेदनशील अनुभूतियों का विश्लेषण ।

२—सन्दर्भ : अर्थ का मतलब, विचार के तथ्य और नयी कविताएँ ।

३—नयी कल्पना और विचार तथ्य ।

४—नये अनुभव की मानसिक स्थिति ।

५—मानसिक स्तर पर अन्तरचेतना की सापेक्षता ।

वर्तमान संवेदनशील अनुभूतियाँ आज की रचना में मात्र आन्तरिक प्रस्फुटन से विकसित नहीं होती । उनका एक बाह्य स्तर भी है । यह बाह्य स्तर आज के जीवन के उस सत्य से सम्बद्ध है जिसमें समस्त मानव की अन्तर्वेदना हमारी संवेदना से सम्बद्ध होकर व्यक्त होती है । युग की प्रवृत्ति उस समष्टि के मृग-दुग्ध, राग-अनुराग, अभिशाप और वरदान से हमारे वैयक्तिक जीवन को सम्बद्ध करती है और हम उससे संचालित एवम् प्रभावित होते हैं । हमारी विचार-शक्ति, धारणा-शक्ति, अनुभूति के स्तर पर व्यापक एवम् विराट मानव की भवतथ्यता के प्रति उन्मुख होती है, उसमें द्रविण और प्रभावित होती है । मानव व्यक्तित्व की यह सामूहिक वेदना, देश-काल की सीमा में अपने-अपने रूपों के माध्यम से व्यक्त होती है । प्रमाण के लिए पिछला युद्ध ही लीजिये । भारत किसी भी रूप में उस युद्ध से सम्बद्ध नहीं था । उसने उस अमानुषिक व्यवस्था का श्लाघ भी नहीं डोला है लेकिन उस युद्ध की व्यापक विभीषिका ने हमारे जीवन को प्रभावित किया है । उसने हमारी चेतना को सर्वदा नया स्तर दिया है । मानव-जीवन की विषमता को अनुभूतियों में गहराई में पिरोया है । समस्त अनुभव को एक बार वह चेतना के स्तर को है जिसके माध्यम से हम उन समस्त स्थितियों को जागरूक और ग्रहण करते हैं जो इस अद्वैत-श्लाघी में समस्त विकलांगता,

अमानुषिकता और बर्बरता को जन्म देती रही है। यह सहृदयी भाव और यह सहभोक्ता की अनुभूति वह मनोवैज्ञानिक स्तर है जहाँ से हम छायावाद एवम् रहस्यवाद के भावक्षेत्र से व्यापक यथार्थ की ओर अग्रसर होते हैं। उन सारी संवेदनाओं को बढ़ाने के हैं जिन्होंने गत दो दशकों में समस्त मानव सन्दर्भ को ही बदल डाला है। उसके भाव, अनुभव और संवेदना को नयी सम्भावनाओं के साथ प्रेरित किया है।

जब हम मानव-जीवन के सन्दर्भ की बात कहते हैं तो इस सन्दर्भ में हमारा स्पष्टतया यह मतलब होता है कि आज इस वर्तमान युग का जीवन और उसके आसपास का वातावरण आज से २० वर्ष पहले के व्यवधान से सर्वथा भिन्न है। प्रत्येक कलाकार अपने वैयक्तिक चरित्र और अपने वातावरण का समवेत रूप अपनी कला में किसी-न-किसी प्रकार व्यक्त करता है। कलाकार का व्यक्तित्व भी वातावरण से विदग्ध होता है लेकिन स्वयम् वह वातावरण की प्रतिक्रिया मात्र नहीं रहता बल्कि अपनी आत्मानुभूति के आधार पर वह भी वातावरण को कुछ न-कुछ देता है। वह अपने प्रकृति विश्वास, अविश्वास को गमाहित करता है और फिर अपने भावों को नये आयामों और सम्भावनाओं के साथ व्यक्त करता है। जहाँ यह आदान-प्रदान सत्य है वही कोई भी कलाकृति मात्र इतने ही में सन्तुष्ट नहीं होती। उसके माध्यम भावान्तरण (Transformation of Emotion) की प्रक्रिया भी सम्बद्ध है। वह उस संवेद-भावना का आत्म साक्षात्कार करके उसे नये सन्दर्भ में प्रयुक्त भी करता है। इंग्लिश सन्दर्भ में हमारा आशय है : वर्तमान स्थिति और उसकी भाग्यवत परिणति में समाहित कल्पना विचार (Idea and Imagination) का उल्लेख।

कल्पना स्वयं विचार (Idea) की आधिन रहती है। किसी भी कल्पना का जब तक प्रकटन नहीं होता तब तक वह अगभावी प्रतीत होती है।

विचारों की पृष्ठभूमि में अनुभव (Experience) का बड़ा हाथ होता है। ये विचार और अनुभव सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्तरों से विकसित होते हैं। उनमें व्यक्ति के आन्तरिक और बाह्य जीवन के विभिन्न अन्तरालों की प्रस्तावना निहित रहती है और यह अन्तराल हमारे मनो-वैज्ञानिक भावों के ऊपर बनते-बिगड़ते हैं। अनुभव-क्षेत्र की सार्यकता में ही संस्कार और परम्परा परिष्कृति होकर व्यक्त होते हैं। इसी परिष्कृति का परिणाम "नयापन" के साथ व्यक्त होता है क्योंकि जीवन के आचार, विचार, मर्यादा और मूल्य सामाजिक, वैयक्तिक एवम् सामूहिक चेतना के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते हैं और अनुभवों की नवीनता इस परिवर्तन को स्वीकार करके विचार, कल्पना और दृष्टिकोण के घरातल को भी बदल देती है।

नयी कविता के साथ सम्बद्ध यह मनोवैज्ञानिक बुद्धिमानता उसके नयेपन का सापेक्ष सत्य है। आज की जीवन की पृष्ठभूमि में खण्डित मर्यादाएँ, टूटे मूल्यों की अस्त-व्यस्त परम्परा, मानव आत्मा की बड़ी प्रताड़ित भावनाएँ, भौतिक द्वन्द्वों के साथ नयी भावनात्मक, रागात्मक अनुभूतियाँ इन सबका सामूहिक प्रभाव हमारी कला व्यञ्जना और अभिव्यक्ति में निहित है। इन सबका समवेत प्रभाव और इनकी समवेत प्रतिप्रिया ने जीवन को दार्शनिक स्तर से विवेचनात्मक स्तर पर प्रस्तुत कर दिया है। यह विवेचना हमारे कला सृजन का एक मुख्य अंग है जिम्मे आत्मानुभूति और अहम् निष्ठा को जागरूक बनाया है। इसीलिए नयी कविता का वास्तविक मूल्यांकन करते समय हमें चाहिये कि हम निहित तत्त्वों को ग्रहण करें जो मनोवैज्ञानिक स्तर पर निम्नलिखित परिधियों का निर्माण करते हैं—

१—विवेचन प्रवृत्ति मस्कारगत, आर्थिक और भावनात्मक मर्यादों की।

२—आत्मानुभूति की सन्नियता - विद्रोहात्मक सन्नियम।

निक गत्यों को उद्धरित किया है जो अभी तक परम्परा की ज्ञान परिधि के बाहर थे। ये वैज्ञानिक मन्त्र मात्र बौद्धिक अनुभूति नहीं हैं बल्कि वे एक निश्चयन मन्त्र को आभाषित करके एक नया स्तर विरगित करते हैं। विवेचनात्मक स्तर पर आज के जीवन की समस्या उन लोगों को एक समस्त प्रभाव हमारे विचार और कल्पना में गम्भीर है। इस विवेचना में हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन का संपर्क, उमर का सन्तुलन, उसकी अंग्रेजित मर्यादा और उसकी सीमाओं को स्वीकृति, नयी कविता के नये उदाहरण, जीवन के बदलते हुए सन्दर्भों में ऋजुवृत्ति होने हैं और गति के साथ विकसित होकर विचार और कल्पना को प्रभावित करते हैं।

किन्ती भी वस्तु का ज्ञान सर्वत्र सवेदनशील अनुभूति पर ही आधारित है लेकिन यह सवेदनशील अनुभूति अनुभव और अभिव्यक्ति के माध्यमों को निर्धारित करती है। आज के युग में सामाजिक और साम्प्रदायिक विशेषताओं की सारहीनता प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सत्य है। सामन्त-वादी परम्पराएँ और धारणाएँ आज के जीवन के समस्त सारहीन और खोखली हो चुकी हैं। कोई भी मान्यता अपनी रीति व्यवस्था के भार को आज के नये सन्दर्भ में बहन करने में असमर्थ है। आज जातीयता, साम्प्रदायिकता, समूहवादिता और सामाजिकता के प्रायः समस्त प्रतिमान नये आयामों में प्रवेश कर चुके हैं और यह नया आयाम वैयक्तिक विवेक का आयाम है। यही कारण है कि प्रत्येक सामाजिक सत्य वैयक्तिक सत्य से प्रभावित है। वैयक्तिक अनुभूति पर सामाजिक छाप न होकर सामाजिक प्रतिमानों पर वैयक्तिक छाप नये युग-मन्त्र के रूप में विकसित हो रही है। इसी अर्थ में आज की वैयक्तिक निष्ठा उन समस्त सामाजिक प्रतिमानों के प्रति विद्रोह करती है जो व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा प्रस्तुत करती है।

मनुष्य मानव के मानसिक विकास का चिह्न है, जिज्ञासा का महत्त्वपूर्ण भाग है जो सत्यान्वेषण के लिए आवश्यक है। नयी कल्पना नयी

उचितता, मये सन्दर्भ की सार्थक चेष्टा है। यही नहीं, वह विवेक की, मोचित्य की, संवेदन की जननी है। आज जो लोग मात्र परम्परा पर जीवन की सारी सक्रियता आधारित करने की चेष्टा करते हैं वे इन विवेकशील तत्त्व की सार्थकता से दूर होते हैं। जब कभी भी सामाजिक प्रतिमानों का विघटन होता है और उस विघटन में मस्तिष्क और परम्परा विलुप्त हो जाती है तब वैयक्तिक विवेक स्वतः जीवन को चल देता है। आज मास्कुलिक मूल्यों और परम्परागत व्यवहारों में स्पष्टतया विघटन का तत्त्व घर्नमान है इसलिए आज वैयक्तिक विवेक ही हमारे जीवन का मन्त्र है।

यहाँ पर विवेक, विवेचना के साथ स्वार्थ और अन्धविश्वास को समझ लेना आवश्यक है। आत्म-विवेक और आत्म-विवेचना हिमी सापेक्ष अनुभव पर ही आधारित होते हैं। स्वार्थ और अन्धविश्वास आत्म-अनुभव के आश्रित नहीं होते, उनका सारा बल परम्परा और उपयोगिता पर आधारित होता है। विवेक का औचित्य सदैव आत्म-मात्र की अनि-पालित भावना है। वह आत्म-मात्र अपनी स्वानुभूति का प्रथम पावर ही माने अप्रसर होता है। आज का बलाकार अपनी आस्था आत्म-विवेक पर इसलिए आधारित करता है क्योंकि वह स्वानुभूति की सार-मत्ता को स्वतः अनुभव करता है। उसकी दृष्टि विगूळित कदियों को कभी भी नहीं पसन्द करती। वह अपने को सन्दर्भ के सार्थक परिवेश में सम्मिलित पाता है इसीलिए वह सन्दर्भहीन तत्त्वों की उपेक्षा करके अपनी आत्मानुभूति के साथ ईमानदार होने के जाने किसी भी प्रकार से आरोपित मनशाद की परवाह नहीं करता। यह परवाह न करने की प्रवृत्ति ही आज के भौतिक जीवन का परिणाम है जो सर्वथा मूल्य नहीं रहा जो मरना।

इस वैयक्तिक विवेक के मूल में वैयक्तिक माहल और व्यक्तिगत विना-शीलता भी देश और काल द्वारा निर्मित परिस्थिति की देन है। जहाँ

निरुक्त गत्थों को उद्धरित किया है जो अभी तक परम्परा को ज्ञान परिधि के बाहर थे। ये वैज्ञानिक गत्थ मात्र बौद्धिक अनुभूति नहीं हैं वरन् वे एक निश्चिन्त मन्त्रव्य को आभाषित करके एक नया स्तर प्रियगित करने हैं। विवेचनात्मक स्तर पर आज के जीवन की समस्त उत्तमताओं का एक समवेत प्रभाव हमारे विचार और कल्पना में गम्भीर है। इस विवेचना में हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन का सपन, उगम मन्तुवन, उसकी अंग्रेजित मर्यादा और उसकी सीमाओं को स्वीकृति, नयी कल्पना के नये उपादान, जीवन के बदलने हुए मन्दर्भों में घट्टित होने हैं और यन्त्र के गाय विह्वल होकर विचार और कल्पना को प्रभावित करते हैं।

किसी भी वस्तु का ज्ञान सदैव सवेदनशील अनुभूति पर ही आधारित है लेकिन यह सवेदनशील अनुभूति अनुभव और अभिव्यक्ति के माध्यमों को निर्धारित करती है। आज के युग में सामाजिक और साम्प्रदायिक विशेषताओं की सारहीनता प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का सत्य है। सामन्तवादी परम्पराएँ और धारणाएँ आज के जीवन के समस्त सारहीन और खोखली हो चुकी हैं। कोई भी मान्यता अपनी रीति व्यवस्था के भार को आज के नये सन्दर्भ में सहन करने में असमर्थ है। आज जातीयता, साम्प्रदायिकता, समूहवादिता और सामाजिकता के प्रायः समस्त प्रतिमान नये आयामों में प्रवेश कर चुके हैं और यह नया आयाम वैयक्तिक विवेक का आयाम है। यही कारण है कि प्रत्येक सामाजिक सत्य वैयक्तिक सत्य से प्रभावित है। वैयक्तिक अनुभूति पर सामाजिक छाप न होकर सामाजिक प्रतिमानों पर वैयक्तिक छाप नये युग-सत्य के रूप में विकसित हो रही है। इसी अर्थ में आज की वैयक्तिक निष्ठा उन समस्त सामाजिक प्रतिमानों के प्रति विद्रोह करती है जो व्यक्ति की स्वतन्त्र सत्ता और उसके व्यक्तित्व की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा प्रस्तुत करती है। विद्रोह मानव के मानसिक विकास का चिह्न है, जिज्ञासा का महत्वपूर्ण घटक है जो सत्यान्वेषण के लिए आवश्यक है। नयी कल्पना नयी

उत्तिथी, नये सन्दर्भ की मापदण्ड चेष्टा है। इसी भाँति, यह सत्य है कि औचित्य की, गवेषन की जननी है। आज का जगत् इस सत्य के जीवन की मारी सक्रियता आधारित करने की चेष्टा कर रहा है। विवेकशील सत्य की मापदण्डता में टरते हैं। जब वह सत्य के प्रतिमानों का विघटन होता है और उस विघटन के कारण परम्परा वस्तुपिप्त हो जाती है तब वैयक्तिक विवेक स्वरूप प्रकट हो देता है। आज सामूहिकता के मन्त्रों और परम्परागत व्यवस्थाओं के विघटन का सत्य वर्तमान है इसीलिए आज वैयक्तिक विवेक ही जीवन का सम्बल है।

यहाँ पर विवेक, विवेचना के साथ स्वार्थ और अन्धविश्वास का अन्त लेना आवश्यक है। आत्म-विवेक और आत्म-विवेचना हिंसा के अनुभव पर ही आधारित होते हैं। स्वार्थ और अन्धविश्वास के अनुभव के आश्रित नहीं होते, उनका साग बस परम्परा और उपयोगिता पर आधारित होता है। विवेक का औचित्य सदैव आत्म-सत्य की प्रतिपालित भावना है। यह आत्म-सत्य अपनी स्वानुभूति का प्रथम पाद है। आगे अग्रसर होता है। आज का कलाकार अपनी आस्था आत्म-विवेक पर इसलिए आधारित करता है क्योंकि वह स्वानुभूति की मार-मत्ता को स्वयं अनुभव करता है। उसकी दृष्टि विभूतल रुढ़ियों को कभी भी नहीं पसन्द करती। वह अपने को सन्दर्भ के सार्थक परिवेश से सम्बद्ध पाता है इसीलिए वह सन्दर्भहीन सत्त्वों की उपेक्षा करके अपनी आत्मानुभूति साथ ईमानदार होने के नाते किसी भी प्रकार से आरोपित मतवाद परवाह नहीं करता। यह परवाह न करने की प्रवृत्ति भी आज के औचित्य जीवन का परिणाम है जो सर्वथा गलत नहीं कहा जा सकता।

इस वैयक्तिक विवेक के मूल में वैयक्तिक माटम और नीलना भी देश और काल द्वारा निर्मित हैं।

उसका विरोध रुढ़ियों और परम्पराओं के प्रति है वहीं उसमें अपने आत्मस्वर और आत्मानुभूति को अपने ढंग से प्रतिष्ठित करते हुए व्यापक मानव की सहज स्वाभाविक निष्ठा के प्रति आस्थावान रहने की निष्ठा भी है। यह केवल नास्तिक के कुष्ठाग्रस्त पतनशील विद्रोह का सृजन नहीं करता है वरन् वह उस व्यापक मानव हित का संरक्षक है जिसे समय के दुष्परिणामों ने भ्रम और भ्रान्ति में डाल रखा है। आज की व्यवस्था में अपनी सीमाओं को जानते हुए भी वह साहम से कहता है—

मैं रथ का टूटा पहिया हूँ
लेकिन मुझे फेंको मत
क्या जाने कब इस दुरुह चक्रव्यूह में
अक्षौहिनी सेनाओं को चुनौती देना हुआ
काँई दुस्साहसी अभिमन्यु आकर घिर जाय
बड़े-बड़े महारथी
अपने-अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी
निहत्थी अकेली आवाज को
अपने ग्रह्याम्त्रों में कुचल देना चाहें
नव मैं रथ का टूटा हुआ पहिया
उनके हाथों में ग्रह्याम्त्रों से नोहा ले सकता हूँ।

‘रथ का पहिया’ और ‘ग्रह्याम्त्र’ दोनों की यथार्थ मता है। हममें सन्देह नहीं कि परम्पराओं का सबसे अस्तित्व है लेकिन व्यक्ति का आत्म-विश्वास भी शक्ति में सीधा धार तपा हुआ है।

प्रस्तुत आत्म विश्वास के आधार पर ही वह अहम्वादी प्रवृत्ति वि-निर्णय हुई है जिसने नये स्वर के विश्वास को आत्मा प्रदान की है। नयी वदित के स्वर में उद्भूत भावना का साक्षात्कार एवं सवरण करने के लिए निरपेक्ष सत्ता की अपेक्षा कलाकार का विश्वासगर्भित अहम्

माध्यम धन कर प्रतिमानों को अपनापन प्रदान करने की चेष्टा कर रहा है। यह कुष्ठाग्रस्त प्रवृत्ति न होकर उस नये आयाम की सृजन संवेदना है जिसमें उदात्त प्रवृत्ति की उत्तर छायावाद पञ्चवहीनता की अपेक्षा व्यक्ति माध्यम में अभिव्यक्ति समुप प्रधान अहमन्यता की आस्था पूर्णतः अभिव्यक्ति पाती है। इस अहमन्यता में आत्म-विश्वास है प्रमाद नहीं, इसमें आत्म-शक्ति है, आत्म-दृष्टि है इसीलिए वह अपने स्नेह सिंचित गर्वीने एवं मर्ममाने अस्मिन्व की सत्ता स्वीकार करते हुए अपने को व्यापक मान-वत्ता के लिए विमर्जित करने में मनोप करता है।

यह दीप ज्वलता स्नेह भरा
है गर्व भरा मद माना, पर
इसको भी शक्ति को दे दो।

यह अद्वितीय यह मेरा यह मैं स्वयं विमर्जित
यह प्रकृत, स्वस्वम् प्रकृत, जम्न
इसको भी शक्ति को दे दो।

यह यह विमर्श नहीं जो अपनी लघुता में भी माया
यह वह पीडा जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुधुश्राने बडुवे नम में
यह सदा द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त नेत्र,
उल्लस्य माहू, यह चिर अखण्ड अपनापा।
जिज्ञासु, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भक्ति को दे दो।

इसमें सन्देह नहीं कि इस युग का यह अहमवाद मिथ्या, कुष्ठाग्रस्त पतनोन्मुख अहमवाद नहीं है। इसमें उदात्त चेतना का स्तर है, आत्म-विश्वास के साथ-साथ आत्म-विमर्जन की वह भावना है जिसमें मानव-समता के प्रति जागरूकता पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित की गई है और उसकी

निष्ठा में आत्मस्थर की गायेन गता की जागृजना की स्वीकृति भी है। हममें आस्था के गाय-गाय उग वैयक्तिक भावना की पूर्ण प्रतिष्ठा भी निहित है जो मात्र की परिस्थिति में विशोध करने हुए भी व्यापक कल्याण के प्रति ध्यानत है।

इसी अहम् निष्ठा की अभिव्यक्ति दूररे प्रकार से हमें स्वाम मोहन श्रीवास्तव की कविता में मिलती है जिसमें व्यक्ति की कुष्ठाओं को काट-छोट कर, उगकी गवेंहिन के लिए व्यापक मानववादी आस्था के प्रति प्रेरित करने की आत्मानुभूति अपनी गह्वरना के गाय अभिव्यक्त की जा सती है। यह वैयक्तिक, आत्मनिष्ठ भावना समस्त विषयताओं के विरुद्ध साहस और बल की उपलब्धियाँ प्रदान करती है। इसमें धीम और मिथ्या साहसवादिता न होकर धनुरिति नयी आस्था का प्रतिष्ठामय स्वर ही प्रतिपादित हुआ है।

धुम न जाये
प्राणों की समिधाएँ
जीवन की कुष्ठाएँ
होम करेगा।
दुर्बल मन की
दुविद्याओं से
पापों की प्रेतात्माओं से
लोहा लूंगा।
पात-फूल से हीन
ढाक की लम्बी, नगी
डालो से बाहे फैलाकर
विक जाने से प्रथम
मरण की मोद करूँगा।

छायावाद जिस विचारहीनता और कल्पना की स्थापत्य के अभाव में केवल शब्दों का आडम्बर बन कर रह गया था, तथाकथित प्रगतिशील साहित्य जिस सामाजिक मूल्य के प्रति अप्रत्याशित अनावश्यक रूप से नारेबाजी लगा रहा था, उदीयमान नये कवि का स्वर उमरे समक्ष अपने अवेलेपन और अपनी वैयक्तिक अहमन्यता को स्वीकार करते हुए अपनी नयी आस्था की प्रतिष्ठित करने के प्रति जागरूक है।

मारग यह कि यह आस्था जीवन के यथार्थ ॥ सम्बद्ध कल्पनानुभूति के नये स्वरों को जागृत करती हुई नयी कविता को 'मानवीय' बनाने में बहुत बड़ा योग दे रही है। आज 'कल्पना' यथार्थ से पृथक् केवल विशुद्ध लोक में नहीं पनप सकती। कल्पना यथार्थ की पृष्ठभूमि में जीवन के अधिक निबट होने के कारण उन सभी गुणों एवं भावों से घोन-घोन है जिनका सम्बन्ध हमारे आन्तरिक और बाह्य जीवन से समान रूप में स्थापित है। यदि प्रगतिशील धारा आन्तरिक और बाह्य के सूक्ष्म चिह्नन में दोष समझती है तो नयी कविता आन्तरिक और बाह्य के सत्य को अपने शिबेक-बन से नयी ध्वजना प्रदान करती है। आन्तरिक भावों का सघर्ष और बाह्य परिस्थितियाँ दोनों ही जीवन की उत्तरी ही सत्यमान स्थितियाँ हैं जिनकी कि वह सौन्दर्यानुभूति जो रागारमक प्रवृत्तियों को विवर्धित करने में सहायक है। नयी कविता इन दोनों में कहीं भी विरोधाभास नहीं मानती इसीलिए वह इन दोनों मानवीयकरण प्रक्रियाओं में आबद्ध है। उसकी माँग है—

और जब तक इन मुनगती टाल पर बैठा रहूँ अमहाय,
मुझे मेरे पछ हो

यह पछ केवल आन्तरिक पीड़ा अथवा विपत्ति में पराइन करने के लिये नहीं माँगा गया है बल्कि इन पछ में उन दृष्टि व्यक्त और बाह्य जीवन के साथ विराट सम्पर्क स्थापित करने की दावना है जो अपनी

अन्तर की तीक्ष्णभूति को बाह्य जगत् की विषमता के समझ बल्यान-
निष्ठ भाव में प्रेषित होकर सम्बद्ध करना चाहती है। यह अनुभूति
तथाकथित सामाजिक गत्य की नियामकता से कई अर्थों में भिन्न है।
पहली तो यह कि इसमें मिथ्या नारावाद नहीं है और न इसमें अनावश्यक
साहसिकता ही दिखाई गई है वरन् आत्मानुभूति की यह गहराई है, वह
परिप्रेक्ष्य है जो वास्तविक विषमता और असमानता को आत्ममान् करके
अपने रूप में ग्रहण करने के बाद सदानुभूति की मयेदना प्रदान करती
है। मनोवैज्ञानिक रूप में वह आधारभूत परिवर्तन जिसके द्वारा अब तक
अन्तर और बाह्य, व्यक्ति और समाज में पृथक्त्व स्थापित किया जाता
था यह एक दूसरे में पिरो कर प्रसृत होने के नाने अधिक ज्ञेय और
भाववद्ध होकर समन्वित हुआ है। यानी वह अन्तर्दृष्टि की प्रवृत्ति
सहभोगता की दृष्टि में बदल गयी है। यह नयी कथिना का परिप्रेक्ष्य
मनोवैज्ञानिक आदान है जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

कामायनी

[महदुसारे बाजपेयो]

प्रगाढ़ जो उस निर-नरक के उभागर है जिसमें अमृत घोंग इलाहल
 की सलाहें लपकती हो गई हैं। आदर्शवादी तो बेचन नीति या अमरत्व
 उभागर होते हैं जो सगर के बटुमूखी जीवन में नदस्थ होकर अपनी
 ब सीख बना जाते हैं। कामायनी का जन्म ही इस आदर्शवादी देव-
 मूर्ति के शिखर के साथ होता है। यह उस बात का संकेत है कि जो
 नि-नरकता का धन होता है वह मानव-नरकता की मूर्ति नहीं है।
 कामायनी का गायन मनु प्रथम मानव है उसी का जन्मान कामायनी में
 निहित है। यह मनु अमरों का वन्दन है 'अमर हो मर मर' यह नि-
 नरक मानव है जो देव-मूर्ति को प्रणम्य, 'तु' पर बच रहा है। स्वयं ही
 वह देवताओं में अतिरिक्त धीरे-धीरे जागा, प्रगाढ़ जो अमर वन्दन में
 रते हैं—

तपन तपशी-सा वह घंटा, साधन करता सुर-रमरान ।
 नीचे प्रलय सिधु सहरो का, होता था सकल अवसान ॥

×

×

×

अवयव की बुढ़ मात-वेशियाँ, ऊर्जस्वित या धीरे अपार ।
 स्फोट शिराएँ, स्वस्थ रक्त का, होता था जिनमें संचार ॥

वह देवताओं के स्मरण का साधन कर रहा था। अमरों की मृत्यु
 पर विचार कर रहा था ! निश्चय ही वह यथार्थवादी नहीं था, नहीं तो
 तार पर हाथ रखकर सिर्फ रोता ।

वह पूर्ण युवा था। उसके शरीर की एक झाँकी घोर सीढ़िये—

चिन्ता-कातर बदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत।
उधर उपेक्षामय यौवन का, बहता भीतर मधुमय स्रोत॥

स्पुष्ट है कि उसकी चिन्ता का आवेग केवल आगतुक था। यदि एक ओर घोड़ी-सी चिन्ता थी तो वह उपेक्षा से भरी हुई, प्रलय की भी परवाह न करने वाली, यौवन की तरंगिणी में बह गई। मनु अपने प्रेत-पितरों की चिन्ता छोड़कर पहाड़ के नीचे उतरा।

नीचे आकर हरित भूमि में काम-कन्या कामायनी से उसकी भेंट हुई। यह भी अच्छे अवसर पर आई, इसकी सुन्दरता की क्या व्याख्या की जाय ? काम की कन्या ही थी। सगीत विद्या सीखकर आई थी। मनु बैचारा क्या जाने ? वह तो पूर्ण पौरुषवान था, किन्तु नारी का उसे क्या परिचय ? इसलिए नारी ने ही अपना परिचय माँग दे दिया। या परिचय सुनकर सैकड़ों यथायंवादी नाक-भौंह सिकोड़ने लगेंगे, किन्तु 'मनु' को इससे क्या ? वह अब का अच्छा ब्रह्मचारी अब भी तपस्या की धुन में ही था। तब कामायनी ने उससे कहा—

हृदय में क्या है नहीं अधीर, लालसा जीवन की निरारोप ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग, तुम्हें मन में घर सुन्वर देस !

+

+

+

कर रही सीतामय आनन्द, महाचिति सजग हुई-सी व्यथत,
पिप्पल का उन्मीलन अनिराम, इसी में सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से संडित ध्येय सगं-दृच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल, बनाते हो असफल भव-धाम।
दमके पश्चात् प्रेमी घोर प्रेमिणी का परस्पर आकर्षित होना
अन्य विविध रमणीय प्रसंग वर्णित हैं जो काव्य के स्वाभाविक वि

की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होंगे, किन्तु जिन्हें सुनकर तथा-
 कपित आदर्शवादी शायद कोसों दूर भाग जाएँ। वास्तविक आनन्दात्मक
 काव्य-प्रणीको का सपह, कर्म और सधर्म का सन्देश, नई काव्य-दिशा का
 सूचक है।

इसके पश्चात् कामायनी की कथा ऐसे स्थल पर पहुँचती है जो
 आदर्शवाद को और भी चनौती देता है। केवल सुखानुभव और विजय
 ही जीवन नहीं है, दुःखानुभव और पराजय भी जीवन है। अपने सुख
 के बाद इसी सुखी दम्पति के जीवन में दुःख के दिन भी आते हैं। कामायनी,
 मनु और एक उनका बच्चा, घर में अब तीन प्राणी हो गए
 हैं। मनु मृगया को जाते हैं, कामायनी तकली कातती है और बच्चा
 बढ़ता रहता है। किन्तु यह तम अधिक दिन तक नहीं चला। मनु की
 क्षति मृगया से ही नहीं हुई। अकेली कामायनी उनका परितोष नहीं कर
 सकी। मन में महत्त्वाकांक्षा जाग्रत हो चुकी थी। वे जीवन की अज्ञान
 गहनता में प्रवेश करने के लिए उद्दिग्ध हुए जो आदर्श की बँधी हुई सीढ़ी
 के भीतर निषिद्ध है। वे अपनी प्रणयिनी यक्षा (या कामायनी) को
 छोड़कर सारस्वत देश पहुँचे। यहाँ की साम्राज्ञी इक्ष्वा को एक राज्य-
 प्रबन्धक की आवश्यकता थी। मनु इस पद पर नियुक्त कर लिए गये।
 वे धीरे-धीरे सारस्वत (या यौद्ध) प्रदेश के सम्राट् बन गये। किन्तु
 साम्राज्ञी तो इक्ष्वा (युद्धि) थी, उनके लिए तो वे प्रबन्धक मात्र थे। इन्हें
 सारस्वत देश के अधिपति बनने से ही संतोष नहीं था, वे तो इक्ष्वा के ही
 अधिपति बनना चाहते थे। यहाँ सधर्म का मूलपात्र होना अवश्यमानी
 था।

मनु ने यह सधर्म भी मोल लिया। जब सारस्वत देश की प्रजा
 उसी इस अनुचित आकांक्षा पर बिगड़ खड़ी हुई तब मनु ने अरेरे
 उसका सामना भी किया। वे सशस्त्र उससे सङ्गे, पर सब मर मरते।

एक घोर तो वे अनेमे, दूसरी घोर प्रजा उत्पत्ती—नष्टने मरने मनु मूर्च्छित होकर गिर पड़े। मृत्यु की अन्तिम गरिमा गिनने लगे।

त्रिग मनु का इतना उन्मान हुआ था, उसका क्या इतना भी पतन हो गया है? त्रिगने गुप्त के इतने दिन बियाये क्या वह दुष्ट के ऐसे दिन भी देख सकता है? आर्यजित्वादी के लिए यह एक ठोस प्रश्न है, त्रिगु यथाथंवादी के पास इसका मीठा उत्तर है, क्यों नहीं, हम सीतामय की सीता में सब कुछ हो सकता है। उनमें मानव मन का तेजा निर्माण दिया है कि मुक्त घोर दुष्ट, उन्मान घोर पतन उन्नी एक ही शोक में आने घोर जाने है। य गुप्त-दुष्ट, उन्मान-मन मन की गति पर निर्भर है। मन ही तेजी ही गति है, वाग्यविज्ञान तेजा ही है। मुक्त घोर दुष्ट उन्मान घोर पतन ना माना बिना हम मन के पीछे दीक्षा करने है।

उपर वाग्यविज्ञानी (मन्त्र) का जीवन भी भार हो गया। त्रिग मनु के उन्नी स्थिति नहीं? अनेमे गुप्त को लेकर वह गिनने दिन रह सकती थी? दुष्ट की बहुत सी गम्भीराने उसने राटी। अन्त में एक रात भयानक स्वप्न देखकर वह यहाँ न रह सकी। बच्चे को लेकर वह पर से निबल पड़ी और भटकती हुई बहुत दिनों बाद उमी नगर में पा पहुँची, जहाँ मनु मूर्च्छित पड़े थे। वह उनके पोजनी हुई अन्त में उनके पास पहुँची। मनु के मानो प्राण लोटे। उस समय का दोनों के मिलन का कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ वर्णन किया है। उस समय के अत्यन्त मनोरम पदों की कुछ वानगी देना चाहता हूँ—

मनु की उक्ति कामायनी के प्रति—

तुम अजल बर्षा सुहाय की, और स्नेह की मधु रजनी,
चिर अतृप्त जीवन यदि था, तो तुम उसमें मत्तोष बनो।

कितना है उपकार तुम्हारा, आभित मेरा प्रणय हुआ;
 कितना आभारी हूँ, इतना संवेदनमय हृदय हुआ ।
 किन्तु अघम में समझ न पाया, उस मंगल की भाषा को,
 और आज भी पकड़ रहा हूँ, हयें शोक की छाया को ।

झटका खाकर मनु के जीवन का प्रवाह एक बार फिर उमरी धोंग
 भूदा है जिसे वह छोड़ आया था । मनु के जीवन की यह कितनी स्वाभा-
 विक गति है । वह फिर कहना है—

नहीं था सखा हूँ मैं जैसे, जो तुम देना चाह रही,
 झुड़ पाऊ ! तुम उससे कितनी, मधु-धारा हो दास रही ।
 सब बाहर होता जाता है, स्थगत उसे मैं बर न सखा;
 बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे, हृदय हमारा भर न सखा ।

घोर अपने घबरे के लिए जिसे वह छोड़ आया था और जो अब
 विगोर हो चला है, उगने में लगे था—

मह कुमार मेरे जीवन का, उज्ज्वल अंत वरदान बना !
 विनया दया प्रीति मेरा, हृदय स्नेह दास नहीं बना,
 दुर्भी रह, सब दुर्भी रहे, दास छोटी मुझ : पदाधी को !

+

+

+

भड़ा देउ रही छुप मनु के, शीतर छड़ी जाती बर ।

किन्तु वह जोड़ी भी छीन ली प्रीति न हुई । मनु का भड़ा मनु
 की लय जोड़ी दया न धमकी । अन्तिम दृष्टि का स्वागत अनुभव के लिए
 की सज्जन मनु ने भड़ा में बना—

मे चम इस छाया के बाहर, मुझको दे न दर्ता रहने ।

+

+

+

दुख नाव मम के नीचे, धा बहो लहर मे रह लेने;
 अरे शंसना हो आया हूँ, ओ आदित्य सह लेने ।

इस प्रकार जीवन को सम्पन्न-बेना के दोनों मानसोदर की ओर
 चले। जब सातवें वर्ष के सामान्य रूप साम गीता के पिये लव बारी का
 रहा। पर अधिकांश ही भी बारी था। यही भी अधिक बारी है,
 किन्तु यह किन्तु न दूसरे ही प्रकार था। इस अधिकांश के अन्त पर
 बारी मानस-जीवन का धर्म वैश्व निष्ठा का उगम सामान्य का
 मानस गुणाना है। यन् धीर यज्ञा गच्छी नादिको को गार करने हुए बने
 का रूप था। यन् अब भी बीच-बीच में निर्धारण था उन्ने से, किन्तु यज्ञा
 उगम गाय भी। बड़ी ऊँचाई पर गच्छकर यन् ने नीचे तीन बड़े-बड़े गोले
 गये। गुच्छे पर यज्ञा ने बगलाया, वे जमना बर्मे, धार धीर जान के छोड़
 । वे नीला आये दिन गुच्छ-गुच्छ था गये है। बर्मे का धीर जाना अन्त
 तमोगुणी निर्धार देना है—

यही सातवें वर्ष, विष्णुना, कोसाहम का यही राज है;
 भगवत्तर में बीड़ लग रही, मन्वाना यह सब सामान है।
 'भाव भूमि' को दिखानी हुई यज्ञा बोली, यह साम रस की रजोमयी
 भूमि है। इसमें—

शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध की, पारस्विकी गुणक पुनर्लपि,
 धारों और मूल्य करती ज्यों, रूपवती रंगीन तिलसिपी।

और अन्त में ज्ञान-भूमि का सवेन करने हुए उगने कहा—
 अस्ति-नास्ति का भेद निर्बुद्ध, करते ये अणु तर्क युक्ति से;
 वे निस्तंभ किन्तु कर लेते, कुछ सम्बन्ध-विधान मूर्धन से।

+

+

+

देजो वे सब सौम्य बने हैं, किन्तु सशक्त हैं दोनों से,
 वे संकेत दम्भ के घसते, भू-धासन मिस परितोषों से।
 यहाँ अछूत रहा जीवन रस, छूओ मत संचित होने दो;
 बस, इतना ही भाग तुम्हारा, सुपा। मृपा, संचित होने दो।

सामंजस्य धत्ते करने थे, किन्तु विषमता फैलाते हैं;
मूल सत्व कुछ और बताते, इच्छाओं को झुठलाते हैं।

आधुनिक सन्यास-मार्ग पर यह काफी कड़ी टिप्पणी है। 'कर्म भूमि' से प्रसाद जी का आशय शरीर या भौतिक पदार्थों और 'भाव-भूमि' में सात्ययं मन या मानसिक पदार्थों से है। ज्ञान-भूमि से प्रयोजन आत्मा या अध्यात्म तत्त्व है। ये तीनों सप्रति एक-दूसरे से पृथक् होकर पतन की अवस्था में पड़े हुए हैं। इन प्रसंग में प्रसाद जी ने बड़ी मार्मिक बातें कही हैं जिनकी धीरे-धीरे ध्यान आकर्षित होना चाहिये। मनु ने उन सबको देखकर विरक्ति से मुंह फेर लिया। तब धृष्टा बोली—

यही त्रिपुर है देखा तुमने, तीन दिन्दु ज्योतिर्मय इतने;
अपने केन्द्र धत्ते हुए-मुछ में, मिश्र हुए हैं ये सब कितने।
ज्ञान और कुछ, क्रिया मिश्र है, इच्छा क्यों पूरी हो मन की;
एक-दूसरे से न मिल सके, यह विदम्बना है जीवन की।

आधुनिक जीवन की यह विदम्बना प्रत्येक यथार्थवादी को बिना झटके मही रह सकती। इसी त्रिपुर (त्रिगुण या त्रैलोक्य) का दाह पुराणों में शिवजी से कराया गया है। कामायनी के कवि ने यह कार्य 'धृष्टा' की मुस्वान द्वारा कराया है—

महा ज्योति रेखा-सी धनकर, धृष्टा की स्मृति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा, जाग उठी थी क्वासा त्रिनमें।

+

+

+

स्वप्न स्वाप जागरण भरम हो, इच्छा क्रिया ज्ञान मिल सय थे;
दिव्य अनारुत पर निनाद में, धृष्टामृत मनु बस तन्मय थे।

अपूर्व तन्मयता का यह अवसर ही मनु के ऐहिक जीवन की धरम सिद्धि है। इसी शुभ अवसर पर मनु-कामायनी ने पुत्र और पुत्र-वधू-

(इदा) भी एकत्र होते हैं, और यहीं उन दोनों का अभिवेक होता है।
इस प्रकार यह मानव-परम्परा चलती है।

+

+

+

यदि यह कथा मनु और कामायनी की केवल व्यक्तिगत होती और हममें कुछ भी संकेत न होता तो भी यह कितनी परिष्कृत, स्वामाबिक तथा आधुनिक कथा थी। किन्तु यह पूर्णरूप से साकेतिक भी है। यह आधुनिक मानवमात्र, नर-नारी मात्र की एक प्रतिनिधि कथा या जीवन का स्वरूप भी है। आज का मनुष्य मनु से भिन्न नहीं है, आज की नारी भी कामायनी से भिन्न हो। कामायनी सब प्रकार से मनु का उद्धार करती है। प्रसाद जी की नारी-मूर्ति मानो पुरुषों का उद्धार करने के लिए ही हुई है। इस विषय में प्रसाद जी की दूसरी अधिग आस्था है कि इस मध्यम में तर्क करना व्यर्थ ही होगा। यदि प्रसाद जी की मारी स्वाभाविक रचना में किसी आदर्श की ओर झुकाव है तो इसी नारी आदर्श की ओर। यही आदर्श उन्हें एक श्रेष्ठ प्रेमाख्यानक या 'रोमै-टिक कवि' का मका (यद्यपि प्रसाद जी को प्रेमाख्यानक ही नहीं, इसके कुछ साम्य भी है। प्राचीन काल में तेरह अथवा दस हिन्दुओं में बहू-विवाह का प्रथा प्रचलित है। इस्लाम में भी इसकी अनुमति नहीं थी, किन्तु वह भी एक के मर जाने पर दूसरा विवाह तो हो ही सका है और स्त्रियों के लिए सभी धर्मों में काफी प्रतिपन्ध रखा गया है। व कोई उक्त मकान है कि यह अन्याय स्त्रियों के विस अपराध के दण्ड के रूप में कोई उमे जानि शुद्धता की रक्षा और कोई बंध पर की रक्षा के लिए आवश्यक बनता है। किन्तु पुरुष जाति के बलक को कोई भी दलील नहीं मिला सकती। उस मारी कृतज्ञता के

बदले जो माना और नारी के उपकारों के प्रति दिखानी थी, हमने बहु-विवाह का दान ले लिया और उसे शास्त्र-सम्मत भी बना दिया। नारी के जिन उपकारों में मनुष्य जन्म-जन्म में निष्कृति नहीं पा सकता, उसका बदला हमने खूब चुकाया। इससे बढ़कर घोरतम पाप पुष्पों ने कोई दूसरा नहीं किया। पुष्पों के डम परम्परागत पाप का प्रायश्चित्त बहिर्दय प्रमाद जी ने इस रूप में किया है। यद्यपि आधुनिक दृष्टि से नारी पुष्प की गमना की अधिकारिणी है और उसे केवल श्रद्धारूप शक्ति बनना उसकी स्पर्द्धायुक्त उन्नति में बाधक बनना भी कहा जा सकता है किन्तु कामायनी के बलि का यह आशय स्वप्न में भी नहीं है। उसे नारी की विद्या में, बुद्धि में, चरित्र में—सब प्रकार से श्रेष्ठ मित्र बनना है, साथ ही परस्पर प्रतियोगिता का भाव भी बचाए रखना है। इस दोहरी मनोवृत्ति के कारण प्रमाद जी ने कामायनी को एकदम आधुनिक नायिका नहीं बना दिया। इस सम्बन्ध में आधुनिकों को यदि बोर्ड एनराबल हो तो प्रमाद जी के पाम उसके लिए बोर्ड दवा नहीं।

आधुनिकों की ओर से एक ही आक्षेप की आगवा और की जा सकती है, वह यह कि प्रमाद जी ने बुद्धि-नस्व की अवधारण निन्दा की है। स्वयं बुद्धि के द्वारा अपने काव्य का उपादान जिसने इतना बलिष्ठ बनाया वह यदि बुद्धि की निन्दा करे तो यह उसकी अकृतज्ञता भी बही जा सकती है। किन्तु मेरे विचार से शान यह नहीं है। यह 'कामायनी' काव्य प्रमाद जी ने मनु या मनस्सन्ध की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए बनाया है। मनु जितनी बुद्धि का भार सहज रूप से वहन कर सकता है, अथवा जितनी अतिरिक्त बुद्धि वह संभाल सकता है उतनी ही उसे धारण करनी है। उतनी बुद्धि तो श्रद्धा में है ही। किन्तु मनु तो उनसे से सतृप्त नहीं हुआ और बुद्धि का अधिपति बनने का दम भरने लगा।

स्पष्ट ही उतरा था फिर गया था अन्यथा वह ऐसे दुस्माहम का काम न करता। आधुनिक मानव भी तो यही कर रहा है! वह मनु की शक्ति या पहुँच के बाहर बुद्धि को दीठाकर जो भयानक आविष्कार करता जा रहा है, उसका परिणाम क्या वह अभी नहीं भोग रहा, क्या इसी पद्धति पर चलने से आज निकट भविष्य में ही मानवीय सम्पत्ति के विनाश की आशंका नहीं हो रही? कहावत का कोई ऐसा ही ध्यस्त जिसे जगत्-मति नहीं व्याप्त होती इसका उत्तर नकार में दे सकता है। इसलिए प्रसाद जी ने मनु या मानव शक्ति के परे बुद्धि की संवर्द्धना करने को बुरा बतलाया है जिम प्रकार शास्त्रकार मन्त्री ने 'महायन्त्र प्रवर्तन' अर्थात् बड़े-बड़े यन्त्र बनाने का निषेध किया था। प्रसाद जी का सदेव बुद्धि, भावना और क्रिया का समान विकास करना होने के कारण बुद्धि की एकांगी उन्नति का यहाँ भी निषेध किया गया है। यह मानना मगन न होगा कि प्रसाद जी बुद्धि के विरोधी थे, हाँ, वे बुद्धिवाद की 'अति' के विरोधी अवश्य थे।

अन्त में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव-प्रकृति का विश्लेषण कर 'प्रसाद' जी ने इस सुन्दर काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मानोभावों को जही सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर सग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की क्या तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामञ्जस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रयास भी है। यही नहीं, यदि हम और गहरे बैठें तो मानव-प्रकृति के शाश्वत स्वरूप की झलक भी इसमें मिलेगी। इस दृष्टि से तो यह मनु-स्मृति के सहस्रो वर्ष बाद मानव-धर्म-निरूपण का महत्त्वपूर्ण काव्य-प्रयास है। कोई साधारण योग्यता का कवि इस कार्य में कदापि सफल नहीं हो सकता। इसके लिए मानवीय वस्तु-स्थिति से परिचय रखने वाली

जिम मर्मभेदिनी प्रवृत्ति की आवश्यकता है, वह प्रसाद जो का प्राप्त हुई है। [उन्होंने अपनी प्रतिभा के बल से शरीर मन और आत्मा, कर्म-भावना और बुद्धि, शत्रु, अशत्रु और उत्तम नस्लों को गृहगत कर दिया है।] यही नहीं, उन्होंने इन तीनों का भेद मिटाकर इन्हें पर्याप्त-बाधो भी बना दिया है। जो मनु और कामायनी हैं, वही आधुनिक पुरुष और नारी भी है, यही नहीं शाश्वत पुण्य-वृद्ध और नारीत्व भी वही है। एक की साधना में सबकी साधना बन जाती है।] महाशय मनु ने एक बार मानव-स्वभाव की बड़ा परीक्षा करने मनुस्मृति की रचना की थी। उसमें उन्होंने श्रद्धाचर्य, पाहस्य, वानप्रस्थ और सन्यास, इन चार आश्रमों की नियोजना की थी। इस आश्रम-गत्या के मूल में जो सुदृढ़ और परीक्षित मनोविज्ञान है, वह समय पाकर विस्मृत हो गया। प्रसाद जी ने उसका काव्यमय रूप पुन उपस्थित किया है। उसकी ओर लोका का ध्यान अवश्य आकर्षित होगा। इस काव्य में मनु, मानव या मनस्वत्व के स्वरूप का बोध, योग तथा साध्य आदि शास्त्रों के विश्लेषण में वैदिक तथा पौराणिक ब्रह्मणों की अनुश्रुति पर मनुस्मृति का गामयिक अनुशीलन, अनुसरण और सशोधन करते हुए आधुनिक शक्ति से अनुकूल नारी की महिमा का विशेष रूप में प्रकाश करने के लिए उल्लेख किया गया है। मनोविज्ञान में काव्य और काव्य में मनोविज्ञान यहाँ एक साथ मिलते हैं। मानस (मन) का ऐसा विरले-पाए और काव्यमय निरूपण हिन्दी में शायद शताब्दियों के बाद हुआ है। इसलिये मैं इस काव्य का अभिनन्दन गोस्वामी गुलसीदास जी की इन स्मरणीय पंक्तियों में करता हूँ—

अस मानस मानस चत चाही ।

भद्र कवि बुद्धि विमल अदगाही ॥

कवि की इस 'मानस-रचना' को मन की आँखों से देखने पर प्रकट

विस्तार का पूर्ण अवसर देकर उसका उदात्त स्वरूप का उद्घाटन किया गया है और साथ ही एक अनुपम सरगना में गवाकर उसे विशृद्धत करने से बचाया गया है। आप यह मानते हैं कि यह समरमता भी अपनी सीमा-रेखाएँ बनाकर रुढ़ि का रूप धारण कर सकती है। संभव है ऐसा हो, किन्तु इस समय में कोई कवि अपने काव्य में आवश्यक समुन्नत (Equilibrium) की नियोजना बिना किये बँधे रह सकता है। फिर आप पूछ सकते हैं कि क्या यह पुरानी रुढ़ि के स्थान पर नई रुढ़ि का स्थापन करना नहीं हुआ ? इसके उत्तर में मैं बहूँगा कि संभव है ऐसा भी हो, किन्तु हम यह मूल नहीं सकते कि नई रुढ़ि में हमें नए जीवन का रस मिलता है जब कि प्राचीन रुढ़ि में ताजे जीवन स्रोतों का अभाव ही नहीं होता, नई जीवन-धारा को अपनी कठोर शिलाओं से दबा रखने की दुश्चेष्टा भी होती है। यह दोनों का अन्तर भी कम ध्या देने योग्य नहीं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि कामायनी एकांगी में अव्यावहारिक, निर्वल तथा हासोन्मुख रुढ़ि के स्थान पर व्यापक बहुमुखी जीवन-दृष्टि का सन्देश सुनाती और नियोजना करती है।

कला कला के लिए

[डॉ० सोमनाथ गुप्त]

जीवन अनुभवों की प्रयोगशाला है। इसमें निरन्तर धारणाएँ बनती हैं, परिष्कृत होती हैं और बिगड़ती भी हैं। मानव का मस्तिष्क प्रयत्न रहा है कि अपने मानसिक उद्वेलनों और निम्न अवस्था अनिम्न विचारों को, यथामति, निश्चित कर सके, चाहे ये सब व्यक्ति में सम्मिश्रित हो अवस्था समाज या राष्ट्र में। प्रत्येक विचारधारा का प्रभाव उसके विचारों की पृष्ठभूमि पर निर्भर रहता है।

इस प्रकार के विचारों को समझ करन के लिए प्रायः सूत्रा अवस्था 'नारों' (Slogans) का आश्रय लिया जाता है और वास्तविक में ये नारें ही विचारधारा का स्थान ग्रहण कर उठते प्रतीत बनने हैं। धर्म-सूत्रों और दार्शनिक-सूत्रों की तरह सौन्दर्य-सूत्रों का भी विकास होना है। 'कला कला के लिए' एक ऐसा ही नारा है जिसका सौंदा सम्बन्ध सौन्दर्य-भावना, रस-विकास और कल्पना-शक्ति में है। अल्प-समय का वास्तव सृष्टि इसकी पृष्ठभूमि है और सम्बन्धी विचारधाराओं का विकास ही हमारे महत्त्व, उपयोगिता एवं उद्देश्य का ज्ञान प्रदान करने के लिए आवश्यक सामग्री है।

'कला कला के लिए' हिन्दी अवस्था समूह की विचारधाराओं में उद्भूत निदान नहीं है। वास्तव में यह वास्तविक अर्थों में 'Art for Arts' Sale" का अनुवाद है और स्वयं अर्थों की व्याख्या के अर्थों में "L'Art pour L'Art" का अनुवाद है। अल्प-समय का वास्तविक अर्थों में इतिहास के लिए धर्म की विचारधाराओं और उनके अर्थों को टटोलने की आवश्यकता है।

यह निर्विवाद है कि पश्चिम की दार्शनिक विचार-पद्धति का मूल स्रोत ग्रीस या जहाँ से सभ्यता का केन्द्र इटली या रोम की ओर गया।
 से वह जर्मनी पहुँचा और वहाँ से फ्रांस होना हुआ इंग्लैण्ड में प्रा-
 हुआ। इंग्लैण्ड से भारत का सम्पर्क होने पर कुछ विचार वहाँ से भारत-
 वर्ष में भी आए और 'कला कला के लिए' का नारा भारत के साहित्य
 में विदेश की भेट स्वरूप ग्रहण कर लिया गया।

इस प्रकार घोंगेजी से हिन्दी में 'कला कला के लिए' वाली बात
 जिस प्रकार आई, नितान्त स्पष्ट है। घोंगेजी वालों ने इसे फ्रांस से अपनाया,
 जैसा कि फासीसी भाषा के रूपान्तर से स्पष्ट है। परन्तु इंग्लैण्ड में यह
 सिद्धान्त किसी मूल सिद्धान्त के रूप में ग्रहण नहीं किया गया। बला
 विषयक अन्य नारों की तरह यह भी एक नारा था।
 वास्तव में 'कला कला के लिए' ने सिद्धान्त रूप में सबसे अधिक
 जड़ फ्रांस में जमाई परन्तु इसके विनाश में प्रवेश करने से पहले इस
 जर्मनीय उद्गम पर विचार करना आवश्यक है।

'कला कला के लिए' का सम्बन्ध जर्मनी की उम सोदर्य-भरक निन
 धारा में है जो प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट (सन् १७२४-१८०४ ई०)
 विचारों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होकर, हीगेल (सन् १७७०-१८०४ ई०)
 तक जर्मनी में चलती और पोषित रही।

काण्ट ने अनुभव किया कि जीवन-साहित्य में एक ऐसे शक्ति
 आवश्यकता है जो प्रतिभा-सम्पन्नता, रुचि-वैविध्य और सुन्दरता
 धारणाओं को एक सामान्य सिद्धान्त के अन्तर्गत व्यक्त कर सके। काण्ट
 के पूर्वज ए० जी० बमगार्टन (Baumgarten) (सन् १७१४-१८०४ ई०)
 ने सौन्दर्य-ज्ञान के अनुसंधान में इसी विषय की प्रति के निर्माण
 'Aesthetic' (सौन्दर्यपूर्ण) शब्द का प्रयोग किया था।^१ आरम्भ में

काण्ट इस शब्द से गनुष्ट नहीं थे परन्तु जन्तु म उन्होंने स्वयं उस शब्द का अनेकों बार प्रयोग किया और उन्हीं से यह शब्द समस्त यूरोप में फैला। अपनी प्रसिद्ध रचना Critique of Judgment (२० का० सन् १७९०) में सौंदर्य-बोध की चर्चा करते हुए उन्होंने जो विचार प्रकट किए हैं वे इस प्रकार हैं—

“अपनी इन्द्रियों द्वारा हम अपने ‘प्रिय’ तथा ‘हविपूर्ण’ पदार्थों की पहचान करते हैं परन्तु ‘गुन्दर’ की छोज के लिए हमें सौंदर्य-परक-निर्णय (Aesthetic Judgment) की आवश्यकता होती है। यह निर्णय एक प्रकार का आनन्द है जो कलात्मक अनुभूतियों के रूपों को देखकर प्राप्त होता है। इन रूपों का मूकक कोई प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ही होता है जो अपनी स्वतंत्र कल्पना में तथा अनिप्रिता में उत्पन्न किया द्वारा इनकी व्यवस्था करता है।”

काण्ट के इन विचारों में कला, उसके महत्त्व और उसकी उपयोगिता तथा कलाकार की अवस्था पर पर्याप्त संवेत है। इनसे स्पष्ट है कि कला का सत्य आनन्द की उत्पत्ति करना है और कलाकार का कर्तव्य निर्लिप्त रह कर अपनी प्रतिभा से गुन्दर रूपों का विर्माण करना है। कला की सृष्टि जब अनिप्रिता के कारण होती है तभी उसे काण्ट के शब्दों में ‘उद्देश्य हीन सत्य (Purposiveness without purpose)’ कहा जाता है। काण्ट के युग की यह मान्यता थी कि मुख्य-मिद्ध होने से कला अर्थ-हीन हो जाती है, वह अपने स्तर से गिर जाती है और इस प्रकार अपने उदात्त संदेश से विमुख पड़ जाती है। इसके विपरीत प्रतिभा-सम्पन्न कला-कार अस्तव्यस्त मामलों को भी ऐसा व्यवस्थित कर देता है कि अमूर्त भी मूर्त रूप धारण कर लेता है। इसी मूर्त एवं अमूर्त के आधार पर काण्ट ने कला का वर्गीकरण ‘तलित’ एवं ‘उपयोगी’ नाम से किया है।

सौंदर्य के विषय में काण्ट का कहना है कि शुद्ध सौंदर्य से न तो सत्य

का काम चलता है और न आचार अथवा नैतिकता का। मोदयं न तो सवेग (Emotion) है और न हृचिपरक संवेदन (Sensation)। वह सौंदर्य-बोध निर्णय की एक स्वतंत्र क्रिया है—इससे न कुछ अधिक है और न कुछ कम। शुद्ध सौंदर्य केवल शिष्टाचारमय (Formal) मात्र है। पदार्थ स्वयं न सुन्दर होता है और न असुन्दर। इन्द्रियाँ सौंदर्य का आरोपण करती हैं और इस आरोपण का आधार व्यक्ति या समष्टि की सौंदर्य-भावना रहती है।

काण्ट ने कला के केवल आनन्द गण को ही स्वीकार किया है, उसे उपदेशात्मक मानने के लिए वह प्रस्तुत नहीं है। उसका मत है कि जो सुन्दर है वह उदार और उदात्त है और जो उदात्त है उसका उद्भव नैतिकता से स्वयं जन्म देगा परन्तु यदि कला का सत्य उपदेशात्मक होने लगेगा तो उसके द्वारा उत्पन्न आघात (impressions) स्वतः ही तृप्त हो जायेंगे क्योंकि जब कलाकार का ध्यान उसके एक निश्चित उद्देश्य पर केन्द्रित हो जायगा तो कल्पना में गतिरोध उत्पन्न होगा और कला अपनी लक्ष्य-सिद्धि से गिर जायगी। मनुष्य की आत्मा में केवल अनुभूति ही नहीं है, उसमें कुछ ऐसी आन्तरिक भावनाएँ भी हैं जो वास्तविक पदार्थों के दर्शन से तृप्त नहीं हो पाती। कलाकार इन्हीं भावनाओं को, अपनी कल्पना द्वारा, अमूर्त से मूर्त बनाता है। उसकी तृप्ति भी इसी सृजन से होती है। काण्ट के इस विवेचन से सिद्ध होता है कि वह कला को सौंदर्य-बोध का परिणाम मानता था और उसका उद्देश्य कोई नैतिक उपदेश न मानकर आनन्द प्रदान करना समझता था।

ऐसा प्रतीत होता है कि रोम के कैथोलिक गिरजाघरों (Catholic churches) में जो ईसाई मत का प्रचार हुआ उसके कारण कला को के प्रचार हेतु ही स्वीकार किया गया। यूनान के कलाकारों ने अपनी कला को जिस रूप में ढाला वे अधिकांश में आदर्श स्वस्थ मानव की

प्रतिमूर्ति के प्रतीक है। रोम के कलाकारों ने गिरजाघरों अथवा अन्य स्थानों पर जो मूर्ति-कला के सुन्दर चित्र बनाए उनमें महान्या ईसा कुमारी मैरी और ईसा के जीवन में सम्बन्ध रखने वाली घटनाओं के ही चित्र हैं। माइकेल एंजेलो, राफेल आदि की कला इसी धारा में प्रसर गई। सम्भवतः धर्म के प्रचार में जो कला का इतना उपयोग हुआ उसी की प्रतिबिम्बों के रूप में 'कला धर्म के लिए' न होकर 'कला कला के लिए' हो गई। कला का उद्देश्य 'आनन्द' मान लेने के कारण बाईट के विचारों ने इस भाव को अधिक प्रथम दिया और यद्यपि बाईट ने स्वयं इस सम्प्रदाय का प्रचार नहीं किया परन्तु 'नारे' के अभाव में भी उसका अर्थ यही स्वीकृत हुआ।

बाईट और हेगल की सौंदर्य विषयक विचारधारा का प्रभाव सन् १८१४ तक चलता रहा। उसके पश्चात् कला और सौंदर्य के सम्बन्ध में नई धारणाओं का भी प्रवेश हुआ। फ्रांस के विक्टर कोसीन (Victor Cousin) इन नए विचारों के प्रवर्तक थे। उनके विचार में—

"सौंदर्य एक पूर्ण अस्तित्व (An absolute idea) है। वह आत्मा प्रकृति का न अनुकरण है और न घट है। जो कुछ 'सचिदर' है वह अविनाशक सचिदर का परिणाम है परन्तु 'सुन्दर' सांस्कृतिक निर्माण है। अतएव कला के दो पक्ष हैं—इन्द्रियों को आनन्द देना और आदर्श की आवश्यकता की पूर्ति करना। जहाँ तक सचिदर और निर्माण का सम्बन्ध है वे दोनों सौंदर्य के तत्त्व हैं। सौंदर्य की भावना एक निराला उदासीनता की भावना है। सौंदर्य स्वयं कोई उपयोगी वस्तु नहीं और सम्बन्ध बनाने के लिए सौंदर्य विषयक शुद्ध भावना को उत्प्रेरित करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं करता। बिना यन्त्र में वास्तविकता का भ्रम हो बिना सौंदर्य की भावना नहीं है। 'कला धर्म प्रथम आचार के लिए सौंदर्य नहीं है, वह सचिदर और उपयोगी के लिए ही उसी प्रकार सौंदर्य नहीं है। क्योंकि कला कोई साधन नहीं है वह स्वयं साध्य है।"

“इन्द्रियाणां के समक्ष स्था विरगिता होने वाले सर्व तथा मृदु
 दम के लिए वातावरण बनाना वा प्रयोग करता है। तान्त्रिक
 मोक्ष (Metaphysical beauty) मन्त्र और गुप्त की वरिष्ठ के गुप्त-
 गुप्त दिव्य देते हैं। यह मूल में सीधे है। मन्त्र जब मानवी कृत्यों के
 रूप में प्रकट होता है तब गुप्त बनता है और जब इन्द्रियवर्तिता रूपों में
 प्रकट होता है तो मोक्ष होता है।” अतएव मन्त्र और गुप्त, मन्त्र की
ही दो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। आगे चलकर बतलाते हुए कहता है—

“जीवन में विभिन्नता का कारण इन्द्रियानुभूति है—मन्त्र द्वारा एकरूप
 की प्रकृति करने में वातावरण गलायका प्रदान करता है और सभी मानवी
 विवेक ज्ञानि तब एकरूपता का अनुभव करता है। परमात्मा के तीन रूप
 हैं—गाय, गुप्त और गुप्त। और ये तीनों मानव द्वारा प्राप्त किए जा
 सकते हैं।”

“रवि और प्रतीक्षा में मूल अन्तर है। रवि प्राकृतिक मोक्ष
 (स्वभाविक) की सहायता है और प्रतिभावान आदर्श मोक्ष का मुख्य।
 रवि निष्प्रिय प्रतीक्षा है और प्रतीक्षा मन्त्र और स्वतन्त्र कृति है। बलाएँ
 भिन्न लक्ष्यगामी नहीं, बल्कि उनके माध्यमों में अन्तर है। सभी बलाओं
 में जीव और बल का प्रयोग अवश्यम्भावी है वरिष्ठ प्रत्येक की अभि-
 व्यक्ति के प्रतीक गुप्त-गुप्त हैं।”

इस प्रकार कला, मोक्ष और रवि की मूल धारणाओं में कुछ अन्तर
 आया। काण्ट और कोर्बान के युग का भेद ऊपर के सक्षिप्त विवरण
 से स्पष्ट है। परन्तु अभी तक भी ‘बना बना के लिए’ बना
 नारा अधिक प्रयोग में नहीं आया। सन् १८२६ में जाफ़े (Jouffroy)
 ने इस शब्द-समूह को कलाओं में लागू किया और सन् १८३२ में इसका
 प्रयोग गातियेर (Gautier) एवं फोर्टोल (Fortoul) की रचनाओं में
 अधिकता से मिलने लगा।

१९वीं शताब्दी के इस भाग में फ्रांस की राजनीति एवं सामाजिक दशा के कारण जीवन और उसकी व्यवस्था विषय पर नए दृष्टि का प्रयोग साहित्य में होने लग गया था। Bohemianism और Romanticism ऐसी ही विचारधाराएँ थी। और बना बना के लिए का गठबंधन इन्हीं दोनों विचारधाराओं के माध्य हुआ।

जब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि कुछ बना की सामाजिक उपस्थिति क्या है? समाज में कुछ विचारक यह कहने लगे कि यदि मूलतः का लक्ष्य केवल मूल्यन बहने तो यह भयानक अहंकार है। यह प्रतिनिधिता उनके विरोध में थी जो मानते थे कि कविता स्वयं पूर्ण और स्वतंत्र है, उसका इसके अनिश्चित अन्य कोई लक्ष्य नहीं। उसका बालन उसके द्वारा प्रदत्त आनन्द है और उसका एक मात्र लक्ष्य बनना या जीवित में साकार होना है। गुस्ताव प्लाजो (Gustave platche) ने तो यहाँ तक कह दिया कि—

“‘बना के लिए बना’ बाले मूल में केवल धृष्टता है अदुष्टता बनना और कवीवृत्ति है, बना का सामाजिक मूल्य तभी है जब वह भावना का परिष्कार करती है और मानव की नैतिकता को ‘अच्छा बढ़ाती है।’”

अतएव ‘बना बना के लिए’ का अभिप्राय ‘हर, हर के लिए’ नहीं है बल्कि ‘रूप, सीद्ध के लिए’।^३ इसके अनिश्चित इसके सभी अभिप्राय मूल भावना के शिखरीन है।

उपमहारः

सन् १८०४ में ‘बना बना के लिए’ का प्रयोग निर्दिष्टता की कोटि पर धारणा के पर्यायवाची शब्द के रूप में किया गया था जिसका अभिप्राय, बाण्ट के शब्दों में, ‘लक्ष्य हीन लक्ष्य (purposeless without purpose) था। सन् १८१३ में बोवॉन (Bovion) एवं रायसो ने पुनरागमन पर बाण्ट की मौलिक शिखरीन शिखरीन शिखरीन ने

घोर से जाती। इसके अनिरिक्त मनुष्य जब पर्वमारोहण अथवा चन्द्र-लोक-गमन जैसे साहसिक कार्यों में प्रयुक्त होता है तो भी मुमुक्षा-वृत्ति को निकाम का एक मार्ग मिल जाता है जो दूसरों के लिए ध्वंसात्मक न होने के कारण उलगा भयावह नहीं होता।

आश्रमिक वृत्ति का रेवन क्रॉयड ने ही मान्यता दी हो, ऐसी बात नहीं है। अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस वृत्ति को स्वीकार किया है। मनुष्य में पाई जान वाली शीयं-भावना इसी आश्रमिक वृत्ति का समादा-नुमोदित रूप है। पर्वमारोहण, ग्रेन-कूद प्रतियोगिताओं में भाग लेना, चन्द्रलोक में जाना आदि इसी शीयं-भावना के स्वरूप हैं और इसमें सम्भवन दो मत न होंगे कि शीयं-भावना की उत्पत्ति अतिशक्ति का रूप है युद्ध। यदि आश्रमिक वृत्ति का तीव्रतम रूप युद्ध है तो युद्ध का तीव्रतम रूप यह है जहाँ सिर कट जाने पर भी कवन्ध युद्ध में अपना जोहर दिखाते हैं। राजस्थान साहित्य से एक उदाहरण नीजिये—

भड़ मिण भाथे जोतियो, सीलो घर स्थापोह ।

सिर भूत्यो भोलो धणो, सासू को जापोह ॥

अर्थात् युद्ध करते-करते एक योद्धा का मुण्ड धराशायी हो गया किन्तु फिर भी वह कवन्ध के रूप में लड़ता रहा और उसने सेना का सफाया कर दिया। उसका घोडा जब उसे गृह-द्वार पर ले गया तो इस भव्य दृश्य को देख कर उसकी पत्नी के मुँह से निकल पडा—मेरी सास का पुत्र भी कितना भोला है, रणागण में अपना सिर ही भूल आया।

कवन्ध-युद्ध का वर्णन केवल राजस्थानी साहित्य में ही नहीं मिलता, अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के वर्णन प्राप्य हैं। कालिदास के कुमार सम्भव से कुछ उदाहरण नीजिये—

सङ्गनिर्लूनमूर्धनि व्यापतन्तोऽपि धाजिनः ।

प्रथमं पातयामासुरसिना दारितानरीन् ॥ (१६।२६)

मियोर्धचन्द्रनिर्ग नमूर्णानो रघिनो रुचा ।

ऐवरो भुविनृपन्तो स्वबन्ध्यावपश्यताम् ॥ (१६-४६)

रणंगने शोणितपंकपिच्छिन्ने कथं कथंचिन्ननुतुष्टंतायुधा ।

नदन्तु नृपेषु परेतयोपितां गणेषु गायन्तु कबन्धराजयः ॥ (१६।५०)

अर्थात् बहुत से ऐसे वीर भी थे वि शत्रु की तलवार से मिर कट जाने पर जब वे अपने घोड़ों में नीचे गिरने थे तो गिरते-गिरते भी अपनी तलवार से शत्रु का मिर काट लिया करते थे । (१६।२६)

भई चण्ड बाणों में एक दूसरे का मिर काट कर दो रथी स्वर्ग में जा पहुँचे और वहाँ से वे अपने उन घड़ों का माल देखते रहे जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लिये युद्ध-भूमि में नृत्य कर रहे थे । (१६।८६)

उस युद्ध-क्षेत्र में जहाँ-महाँ लगाटे वज्र रहे थे और भक्त-प्रेमों की मित्रता गीत गा रही थी । वहाँ रण-भूमि में लड़के कीचड़ में इतनी फिमागत हो गई थी कि बाण लिये हुए वीरों के घड़ बड़ी कठिनाई से नाच पा रहे थे । (१६।१०)

वीरगमावनार महारथि सूर्यमत्तमिश्रण की दृष्टि में इस प्रकार के योद्धाओं के पावन नाम का स्मरण भी अन्य योद्धाओं के लिए बड़ा प्रेरणाप्रद है—

बिण भार्य वाडं दसां, पोडं वज्रं उतार ।

तिज भूरा रो नाव से, भइ बांधे तरसार ॥ १६५ ॥

(वीर सप्तमर्द)

अर्थात् मिर कट जाने के बाद भी जो कबन्ध रूप में युद्ध कर सेनाओं को काट डालते हैं और स्वाभी के श्रेष्ठ को चुना कर धराशायी हो जाने हैं, उन वीरों का नाम लेकर वीर लोग तलवार बांधा करते हैं । आनिशम दाग किये कबन्ध-युद्ध-वर्णन में प्रतीत होता है कि कबन्ध-युद्ध

"इन्द्रियाधानो के समय स्वतः विकसित होने वाले तर्क तथा गुड रंस के लिए कलाकार अपनी कल्पना का प्रयोग करता है। तार्किक सोदय (Metaphysical beauty) सत्य और शुभ को यद्यपि वे पृथक्-पृथक् दिखाई देने हैं, एक सूत्र में बाँधता है। सत्य जब मानवी हृत्पों के रूप में प्रकट होता है तब शुभ बनता है और जब इन्द्रियजनित रूपों में प्रकट होता है तो गोदय होता है।" अतएव शुभ और गुडर, सत्य की ही दो विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं। आगे चलकर कोशिंग पुन कहता है—

"जीवन में विभिन्नता का कारण इन्द्रियानुमति है—तर्क द्वारा एतत् को ग्रहण करने में कल्पना सहायता प्रदान करती है और तभी मानवी विवेक ज्ञानि एवं एकता का अनुभव करता है। परमात्मा के तीन रूप हैं—मर्य, गुडर और शुभ। और ये तीनों मानव द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं।"

"रवि और प्रतिभा में एक अन्तर है। रवि प्राकृतिक मोर्चे (स्पेसिफिक) की गगनता है और प्रतिभावान आदर्श मोर्चे का सूत्र। रवि निश्चित कति है और प्रतिभा अनिश्चित और अज्ञात कति है। कलाई भिन्न लक्षणाधी नहीं बल्कि उनमें साधनों में अन्तर है। सभी कलाओं में ज्ञान और कान का प्रयोग अवश्यमावी है यद्यपि प्रत्येक की अभिव्यक्ति के द्वारा पृथक्-पृथक् है।"

इस प्रकार कहा, मोर्चे और रवि की मूल धारणाओं में कुछ अन्तर आया। कला और कलाई के मूल का भेद ऊपर के सविन विधान में स्पष्ट है। परन्तु अभी तक भी 'कला कला के लिए' कहा नारा अतिशय प्रचलित मन्त्री आया। मन् १८२६ में जार्ज (J. Millar) ने इस मन्द-मन्द का कलाधी म काल दिया और मन् १८३७ में इसका प्रयोग गार्डनर (Gardner) एवं कोशिंग (F. C. C. C.) की रचनाओं में अभिव्यक्ति में मिलने लगा।

१९वीं शताब्दी के इस भाग में फ्रांस की राजनीतिक एवं सामाजिक दशा के कारण जीवन और उसकी व्यवस्था विषयक अनेक नए दृष्टि का प्रयोग साहित्य में होने लग गया था। Bourgeoisism और Romanticism ऐसी ही विचारधाराएँ थीं। और बना बना के निगम गठबंधन इन्हीं दोनों विचारधाराओं के माथे हुआ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न हुआ कि कुछ बना की सामाजिक उपयोगिता क्या है? समाज में कुछ विचारक यह कहने लगे कि यदि मनुष्य का लक्ष्य केवल मृत्युन बहने तो यह भयानक अहंकार है। यह अतिविश्वास उनके विरोध में थी जो मानते थे कि बहना स्वयं पूरा और स्वयं ही। उसका हमारे अनिर्गुण अन्ध बार्द लक्ष्य नहीं, उसका बानून हमारे द्वारा प्रदत्त जाना है और उसका एक मात्र लक्ष्य बहना या जीवन में साधारण देखना है। गस्ताव प्लांचे (Gustave planché) ने तो इसी लक्ष्य का दिया कि—

“‘बना के निगम बना’ बहने मृत्यु में केवल धूलका है अमृतमयता और कभीकाल है; बना का सामाजिक मूल्य तभी है जब वह भयानक का परिणाम बहती है और मानव की नैतिकता को उत्पन्न करता है।”

अतएव ‘बना बना के निगम’ का अभिप्राय ‘हम, हम के निगम’ नहीं है बल्कि ‘मनु, मनुष्य के निगम’। हमारे अतिरिक्त हमारे सभी अभिप्राय मृत भयानक के विरोध में हैं।

उपसंहार :

सन् १८०४ में ‘बना बना के निगम’ का प्रयोग लिखित रूप में हुआ। परन्तु धारणा के पर्याप्तवादी अन्त में हम के निगम का अर्थ अविशेष, बाह्य के अन्त में, निगम ही निगम है। (निगम without purpose) का। सन् १८१३ में बहना (Bourgeoisie) के राजाओं ने पुनरागमन पर बहना की अतिरिक्त।

थार्ड । गान्ना नाम (Rubens) के द्वारा व विचार वैशिष्ट्य में नाट्य-सौन्दर्य-मिथ्यात्वों का रूप में विकसित हुए और 'कला कला के लिए' एक नाम भी बना गया एक प्रगल्भता का वैश्वीकरण मिथ्या भी । मन् १८२०-३० तक का काल और R. M. d. Paris' उम्र प्रगल्भता के युद्ध मान्य रहा । मन् १८३३-३६ में सेंट एन्थोनी (Sainte-Buve) गया उनके कुछ मित्रों ने यह विचार प्रकट किया कि 'मनोव' और उनके अधिपति सभी 'कला कला के लिए' मन्त्रदाय के अनुयायी थे । फिर यह विचारधारा Bohemianism तथा Romanticism में भी मिल गई क्योंकि इसका अन्तिम पृष्ठ रहा ।

१९वीं शताब्दी के मध्य में यह मिथ्यात्व अपने पूर्णत्व को पहुँचा और अनेक गुजर कलाकारों का अनुयायी सौन्दर्य-बोध अन्य मिथ्यात्व बना रहा । परन्तु जिस काव्यीय विचारधारा में इसका श्रीगणेश हुआ था, वह हमें पृष्ठ हो गई और गॉटियरे (Gautier) एवं बाउदेलेर (Baudelaire) के विचारों में झेलने लगकर यह चली रही । काव्य इस प्रकार में विचोड़िये रह गए ।

अपना यह इतिहास लेकर 'कला, कला के लिए' मिथ्यात्व प्रगल्भता साहित्य में आया । और अपने साथ यहाँ आकर दाने अनेक नारों को जन्म दिया । उदाहरणार्थ

- | | |
|------------------------------|-----------------------|
| 'Art for life's Sake' | (कला, जीवन के लिए) |
| 'Art as an escape from life' | (कला, जीवन से पलायन) |
| 'Art as an escape into life' | (कला, जीवन में पलायन) |
- आदि आदि ।

नोट : इस लेख के लिखने में मैंने Journal of Aesthetics and Art criticism की पुगनी फाइलों तथा १९५३ के जून मास में प्रकाशित जात बिलकाक्स के लेख से सहायता ली है । अतएव श्री बिलकाक्स के लेख के लिए अनुगृहीत है ।

राजस्थानी साहित्य में शीयं-वृत्ति और उसका मनोवैज्ञानिक आधार

[डॉ० कन्हैयालाल सहस्र]

पौण्डरी ने दो महत्वपूर्ण वृत्तियाँ मानी हैं जिनमें ग एक है जीवन-वृत्ति (Life) तथा दूसरी है मरण-वृत्ति (Death)। जीवन-वृत्ति का लक्ष्य है जीवन तथा जानि का संरक्षण। यह वृत्ति अतः घोर कामधडा दानों के कार्यों का समन्वय है। मरण-वृत्ति एवं व्यवसायिक वृत्ति है जो अपने को अथवा दूसरों को मिटाने का कार्य करती है। विरोधों का नाश, पोंटना, प्राय में हाथ-पैर पटकना, इस वृत्ति के लक्षण हैं। यह पौण्डरीक इस वृत्ति को महजान अथवा प्राकृतिक नहीं मानता। बल्कि व्यवसायिक जीवन संस्कृति में सीखता है।

जिजीविषा और समर्था नामक उन दो वृत्तियों के समूह में मत्ता किडान को भी समझ लेना आवश्यक है। कुछ लेखन में मत्ता की धारणा का विशेषण किया जिसके अनुसार दोष की प्रकृति पर ही मत्ता दूर होता है। मनुष्य का जीवन ही एक प्रकार में मत्ता की प्रकृति है। जिजीविषा का काम यह है कि वह मनुष्य के मत्ता की दूर कर उसे सुखी बनाने का प्रयत्न करती है किन्तु यह प्रयत्न अथवा परिणाम होता है कि समर्था के होने हुए जिजीविषा किन प्रकार अपना काम दूर करती है। पौण्डरी ने इस प्रश्न का समाधान करने हुए बताया कि समर्था स्वयं को न मिटा कर जब दूसरों पर आक्रमण करने का कर प्रयत्न करती है तो उसे अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग मिल जाता है। यदि वृत्ति दूसरों पर आक्रमण न करना हो सम्भव, समर्था की वृत्ति उसे अपने हाथ की

घोर में जाती। इनके अतिथि मनुष्य जब पंचांगरीह्य भयना मन्त्र-
तोष-गमन जैसे माह्निक वाणी में प्रवृत्त होता है तो भी सुमूर्त-वृत्ति
को निराग का एक माघे मित जाता है जो दूसरों के लिए अंगमात्र न
होने के कारण उतना भयानक नहीं होता।

आत्रामक वृत्ति का पंचम मन्त्र ने ही मान्यता दी थी, ऐंगो वा
नहीं है। अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी इस वृत्ति को स्वीकार दिया है।
मनुष्य में पाई जा। वाणी मान-भासना इनो आत्रामक वृत्ति का समाजी-
नमोदि रूप है। पंचांगरीह्य, ऐंग कृ प्रविर्गानिवाया में भाग लेना,
पञ्चलांक में जाना आदि इसी शोष-भासना के अन्तर्गत है और इनमें
सम्भवन दो मत न होंगे कि शोष-भासना ही उत्तम अतिथि का रूप
है मुझ। यदि आत्रामक वृत्ति का तीव्रतम रूप युद्ध है तो युद्ध का तीव्रतम
रूप यह है जहाँ मिर कट जाने पर भी वचन युद्ध में आना जोहर दिखाने
है। राजस्थान माहिन्य में एक उदाहरण लीजिये—

भड़ मिण माधे जीतियो, लोलो पर त्यायोह ।

तिर भूल्यो भोलो धनो, सामू को जायोह ॥

अर्थात् युद्ध करने-करते एक मोटा का मुण्ड धरानायी हो गया किन्तु
फिर भी वह वचन के रूप में बढ़ना रहा और उमने सेना का मकाया
कर दिया। उसका मोटा जब उसे गृह-द्वार पर ले गया तो इस मध्य दृश्य
को देख कर उसकी पत्नी के मुँह में निकल पड़ा—मेरी सात का पुत्र भी
कितना भोला है, रणांगण में अपना मिर ही भूल आया।

वचन-युद्ध का वर्णन बेचल राजस्थानी माहिन्य में ही नहीं मिलता,
अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के वर्णन प्राप्य हैं। कालिदास के कुमार
सम्भव से कुछ उदाहरण लीजिये—

यदपनिर्जुनमूर्धनि व्यापतन्तोऽपि योजिनः ।

अथवा पातयामासुरसिना दारितान्तेन ॥ (१६।२६)

मियोऽधंचन्द्रनिर्ल नमूर्धानी रयिनी रुचा ।

ऐंशरी भूविनृत्यन्ती स्वकबन्धावपश्यताम् ॥ (१६-४६)

रणांगणे शोणितपक्वपिच्छले कयं कयचिन्ननृतुर्धृतायुधा ।

नरन्तु त्रुप्येषु धरेतयोषितां गणेषु गायन्तु कबन्धराजय ॥ (१६।५०)

अर्थात् बहुत से ऐसे वीर भी थे कि शत्रु को तलवार से मिर कट जाने पर जब वे अपने घोड़ों में नीचे गिरने थे तो गिरने-गिरने भी अपनी तलवार से शत्रु का मिर काट लिया करने थे । (१६।२६)

जहाँ चन्द्र बागों में एक दूमरे का मिर काट कर दो रयी स्वर्ग में जा पहुँचे और वहाँ में वे अपने उन छद्मों का खूब देखने रहे जो बहुत देर तक हाथ में तलवार लिये युद्ध-भूमि में नृत्य कर रहे थे । (१६।६६)

उम युद्ध क्षेत्र में जहाँ-तहाँ नगाड़े बज रहे थे और भय-प्रेतों की म्मियाँ गीन गा रही थीं । जहाँ रण-भूमि में सड़ के कीचड़ से इतनी पिगलन हो गई थी कि बाण लिये हुए वीरों के छड़ बड़ी बटिनार्द से नाच पा रहे थे । (१६।५०)

वीरगावतार महाव्रति सूर्यमत्तमिथ्यण की दृष्टि में इस प्रकार के योद्धाओं के पावन नाम का स्मरण भी अन्य योद्धाओं के लिए यहाँ प्रेरणाप्रद है—

विण मार्यं धाई बला, पोडे बर्ज उतार ।

तिण मूरा रो नाव ले, भड धाधे तरसार ॥ १६५ ॥

(वीर नमस्)

अर्थात् मिर कट जाने के बाद भी जो बबन्ध रूप में युद्ध कर नेताओं को काट डालने है और स्वामी के शत्रु को चूना कर घराया हो जाने है, उन वीरों का नाम लेकर वीर लोग तलवार बांधा करते हैं । आदिशान द्वारा किये बबन्ध-युद्ध-वर्णन से प्रतीत होता है कि बबन्ध-युद्ध

एक प्रकार की काव्य-रूढ़ि है जिसका भारतीय कवियों ने सामान्यतः प्रयोग किया है। राजस्थानी साहित्य में अवश्य उक्त काव्य-रूढ़ि के रोगांचक तथा अद्भुत घणन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं।

उपर जिग शीर्ष का उल्लेख हुआ है, उसका शृंगार रस में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वर्ग की अप्सराएँ भी शूरवीर का वरण करने के लिए आतुर तथा उत्सुक रहती हैं। प्रचलित लोक-विश्वास के अनुसार जो शूरवीर अद्भुत पराक्रम दिखाकर धराशायी होना है, वह स्वर्ग में जाकर अप्सराओं के साथ विवास करता है। राजस्थानी साहित्य में 'तो अप्सरा रो आगिक' वीर का एक विशेषण ही बन गया है। जहाँ वीर 'अप्सरा रो आसिक' है, वहाँ अप्सरा भी उसका वरण करने के लिए बाट देखती रहती है—

'वरण कज अपछरा बाट जोर्व छडी ।'

(हाता झाला रा 'कुण्डलियाँ' (१६)

स्वर्ग में एक अप्सरा के लिए झगड़ते हुए दो योद्धाओं का उल्लेख कालिदास ने भी किया है—

अम्योन्यं रयिनौ कौचिद् गतप्राणौ दिवं गतौ ।

एकामप्तरसं प्राप्य युयुधाते वरायुधौ ॥

(कुमारमम्भव १६।४८)

अर्थात् दो रथ-सवार ग्रीर श्रेष्ठ शस्त्रधारी योद्धा एक दूसरे को मार कर जब स्वर्ग में पहुँचे तब वे दोनों वहाँ एक अप्सरा के लिए आपस में लड़ाई करने लगे।

इससे स्पष्ट है कि कव्य-युद्ध की भाँति वीर का स्वर्ग-गमन तथा अप्सरा-प्रेम भी सामान्यतः भारतीय साहित्य में तथा विशेषतः राजस्थानी वीर साहित्य में काव्य-रूढ़ि और लोक-विश्वास के रूप में चित्रित हुआ है।

ऊपर जिस आश्रमक वृत्ति की चर्चा हुई है, वह केवल वास्तविक युद्ध के रूप में ही प्रकट नहीं होती, वास्तविक युद्ध के अभाव में भी वह अनेक रूपों में हमारे सामने आती है। किसी बुरे काम की निन्दा करना भी आश्रमक प्रवृत्ति का ही एक रूप माना जा सकता है। उदाहरण के लिए वीर मनगई के निम्नलिखित दोहे लीजिए जिसमें कवि ने कायर की भर्त्सना की है—

केत पधारो ठाकुरां, भरदा नैण मित्ताय ।
 फरती-रा लींघा फिरं, धरती-रा धन छाव ॥१०२॥
 मोला ! को डर भागियो, अन्त न पहुँई अँण ।
 बीभी बीठा कुल यह नीचा करती नैण ॥११६॥
 पूत महा दुख पालियो, बय खोवण धण पाय ।
 एम न जाणी, आवसो जामण-दूध सजाय ॥११५॥
 कंत ! धरे किम आविया, तेण रो घन वास ?
 सहँगे भूत लुकोजिये, बंदी रो न विसास ॥३५॥

उक्त दोहों में कही तां कवि ने स्वयम् कायर की भर्त्सना की है और कही माना तथा पत्नी के द्वारा कायर की भर्त्सना करवाई गई है। यथार्थ जगत् में कवि जब किसी पर तलवार तथा भावों आदि के द्वारा आक्रमण नहीं कर सकता, तब वह बाग्याणों द्वारा मुष्टपराङ्मुख कायरों की निन्दा करके अपनी आश्रमक वृत्ति को किसी रूप में सन्तुष्ट कर लेता है।

वश भास्कर के सुप्रसिद्ध रचयिता महाकवि सूर्यमन्त्र ने अपने किसी जगौरदार मित्र को लिखे पत्र में निम्नलिखित उद्गार प्रकट किये थे—

“राजपूतों में जमे कभी वीरत्व की भावना देखी या मुनी जाती है, तब मन में आनन्द ज्ञा जाने का ध्यमन है। लोभ अनेक तरह के होते हैं, उनमें तो राजपूत की राजपूती देखने का भी वह एक लोभ है।”

मोई योद्धा जब स्वयं दिग्गजर देग अथवा धर्म की रक्षा के लिए अपने प्राणों का उगम कर देता है तो गमात्र उसे सम्मान की दृष्टि में देखता है तथा ईश्वर में भी उगका नाम स्वर्गाशरी में अंकित हो जाता है। इस प्रकार का आत्मोत्सर्ग आत्मात्म वृत्ति को उत्कृष्टता में इश्वर-सांस्कृतिक उन्नयन की धारा बना देता है।

श्री गुरुभग्न देगा कवि जब स्वयम् इस प्रकार का आत्मोत्सर्ग नहीं कर सकता तो उस धोतखी कागों में ऐसे आत्मोत्सर्ग का चित्र अंकित कर देगा। जिनमें उगरी आत्मात्म वृत्ति को विकास का एक ऐसा मार्ग मिल जाता है जो वृत्तियों के उदात्तीकरण का मार्ग है। कुछ धीरे धीरे न राही। कुछ धीरे धीरे वृत्तियों के भव्य वर्णनों द्वारा भी कवि आत्मोत्सर्ग धीरे धीरे भावना की निर्मा रूप में लुप्त कर देता है।

इसीलिए महाकवि गुरुभग्न ने जहाँ कायरों की निन्दा की है, वहाँ योद्धाओं के ऐसे भव्य चित्र भी अंकित किये हैं जिनमें कवि की शौर्य-भावना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। कुछ दोहे सीखिये—

महै पद्मैत कायर नरा, हेतो । घात मुहाय ।
 बलिहारी जिज देसहं, माया मोत बिकाय ॥१६७॥
 तोरण जाता बाहर, मुजियो अजकं बीर ।
 साधा हल सीधी सधी । मोटे पड़वे मोब ॥२१०॥

ऊपर जिस मुमूर्षा (Thanatos) का उल्लेख किया गया है, वह फ्रायड के अनुसार अत्यन्त महत्वपूर्ण वृत्ति है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य मरने-मारने पर उत्तारू हो जाता है। यह 'इरोस' अथवा सृजनावृत्ति के विपरीत है जिसका ध्वसात्मक प्रभाव मानव के व्यवहार और व्यक्तित्व में लक्षित होता रहता है।

इसी प्रकार तनाव-सिद्धान्त के अनुसार जब तक तनाव दूर नहीं होता, तब तक चैन नहीं मिलता। बीर सतसईकार ने एक ऐसे योद्धा

का वर्णन किया है जो तनाव-सिद्धान्त तथा मुमुक्षा, दाना का दान आदि प्रवृत्त करता है—

छाया अंग ब्रह्मेष्टियो, रण रो भूषो कट ।

बेले सालो धौद-नू, पछनाये परपूठ ॥२०१॥

हर विवाहायें मसुराल पट्टेचा । इधर युद्ध छिड गया । हर भी युद्ध का भूषा या बिन्दु साले में उमे युद्ध में जाने में मना कर दिया जिमने हर कट गया धीरे पीछे से उमने तलवार के प्रहारों में अपने छाया का कट कर बिगेर दिया । माम्मा जब युद्ध में लौट कर आया तो पीछे में बहुत पछनाया कि मैंने उस युद्ध-भूमि में जाने में क्यों राखा ।

इसी प्रकार आत्रामक ध्वनि के निदर्शनायें एक दूसरा दिव्यता उदाहरण सीजिये जिमने रावल पूजाजी ने वाली सीज के दिन दिव्यता पर ही बटारी का धार कर दिया था । राजस्थानी बरि के राजाचर कथा में—

“बागली समता ऊजली बटारी

बीजली उपरा सुहिम बाहे ॥

साय घर अजर सी होय जाने लही

छडहरी होय जगल अही सीज ।

बहर सरबूज रावल अही बटारी

सीज उपर लही सुसरी सीज ।

बादल धेमी घाउल हुई बीज ॥”

दिव्यता पर उह बटारी बन गई गई तो ऐसा ऊपर पर लगे हो बलिनी लह रही हो । दिव्यता यदि अस्मत्त्व को ऊपर है तो ऊपर पूजाजी की बटारी छाने की आ है । दिव्यता उह दिव्यता है तो पूजा जी ऊपर की छोर लगे दिव्यता पर है । उह बरि के दिव्यता को है कि लगे पूजाजी की बटारी में लगे होकर दिव्यता लगे में

धंस गई। श्री गुरुमन्त्रजी मिश्रण ने वीर मनगई में जो वीर के चित्र
 खोदे हैं, उगमें कहा गया है कि शूरवीर युद्ध के बिना अन्यमनस्क ना रहता
है, वीर स्वामी का अन्न बिना युद्ध किये वह पचा नहीं पाता तथा उसे
युद्ध का तमाशा देखना ही अच्छा लगता है—

१—दमंगल बिण दुमनो रहै। (२१)

२—दमंगल बिण अपेखो डियण, वीर धनी री घान। (१०)

३—और तमासां कायरां, वंछं नहं छव घाण।

घाय हयके भइ यकं, जिको तमासी जाण ॥१७३॥

यह तो हम नहीं कहते कि फॉण्ड द्वारा निरूपित मरण-वृत्ति अथवा
 घेनेटास का अस्तित्व ही नहीं है, तथापि यह अवश्य कहा जा सकता है
 कि मुमूर्षा सभी व्यक्तियों में नहीं पाई जाती और न यह कोई जन्मजात
 मूलभूत वृत्ति ही है। 'हाँ, जिजीविषा अवश्य ऐसी मूलभूत वृत्ति है जो
 जन्मजात है और जिसके महत्त्व से किसी भी प्रकार इकार नहीं किया
 जा सकता। जिजीविषा इतनी प्रबल वृत्ति है कि मनुष्य मृत्यु के बाद भी
जीवित रहना चाहता है। अपनी मृत्यु के बाद भी कोई शाहजहाँ ताज-
महल बना कर अमर हो जाता है और कोई प्रमाद कामायनी जैसा
कालजयी महाकाव्य लिख जाता है जिस पर काल का भी बश नहीं
चलता।

ताजमहल देख कर किसी यूरोपीय महिला से जब यह पूछा गया
 कि ताजमहल उसे कैसा लगा तो उसने तुरन्त यही उत्तर दिया था कि
 यदि कोई मेरी मृत्यु पर ऐसा ही मकबरा बनवा दे तो मैं आज ही मरने के
 लिये तैयार हूँ। वीर कल्ला के लिए यह प्रसिद्ध है कि उसने अपनी मृत्यु
 से पहले ही मृत्यु का गीत सुनकर उसी प्रकार का भव्य युद्ध किया था
 जिस प्रकार के युद्ध का चित्रण गीत में हुआ था।

✓ देश और धर्म की रक्षा के लिए शूरवीर सदा से अपने प्राणों की

बाजी लगाने आये हैं किन्तु किसी आदर्श अथवा ध्येय-प्राप्ति हेतु आत्मोत्थान करना उस मरण-वृत्ति के अन्तर्गत नहीं आयेगा जिसका उल्लेख उपर किया जा चुका है। इस प्रकार का प्राणान्तरिक तो यश रूप में अमर रहने अथवा जिजीविषा के ही अन्तर्गत आ सकता है। जो शरवीर तुच्छ मृत्यु का लोहा नहीं मानता, वही तो जीवित रहने का अधिकारी है। रामायण के योद्धाओं ने देव और दम की रक्षा के लिए जो अपने प्राणों की बाजी लगा दी थी, उनके पीछे अवश्य ही कोई प्रेरणामयी प्रबल भाव-धारा रही होगी।

मर्दानगी दिखाना तथा मृत्यु का आलिंगन करके भी अपने देश को पराधीनता के पाछे से मुक्त करना प्रत्येक पुरुष कहे जाने वाले व्यक्ति का परम धर्म है। ऐसा पुरुषार्थ दिखाना कर ही कोई व्यक्ति अपने पुरुष नाम को सार्थक कर सकता है।

अन्त में यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि तनवार, भालों तथा घनुव-शमों को लड़ाई द्वारा ही शौर्य की अभिव्यक्ति नहीं होनी युग-परिवर्तन के साथ-साथ शौर्य के प्रकारों में भी परिवर्तन अवश्यम्भावी है। गांधी-युग में मछपि लड़ाई का प्रकार बदल गया था तथापि अहिंसक शूरवीरों द्वारा जो शौर्य दिखलाया गया, उसकी पावन गाथा भारतीय इतिहास के पृष्ठों में अंकित है।

जिसी भी बुराई से लड़कर उस पर विजय प्राप्त करने में मनुष्य के आत्म-शम्मान और गौरव में वृद्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि शौर्य और आत्म-गरिमा तथा आत्म-शम्मान परस्पर संबद्ध हैं। किन्तु हमने भी बड़ कर यदि यह कहा जाय कि शौर्य और मानवीयता में कोनी-दामन का सम्बन्ध होना चाहिये तो भी कुछ अनर्चिन न होगा। मन-साहित्य में भी शौर्य का स्तवन हुआ है जिसने इसकी महिमा और भी बड़ जाती है। शौर्य जहाँ मानवीयता में बाधक हो, वहाँ वह प्रमत्तचित्त

के रूप में ही हमारे सामने आयेगा। राजस्थानी साहित्य में शौर्य के साथ-साथ प्रतिशोध लेने का भी जो चित्रण किया गया है, वह वाछनीय नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए—

“दोषणां हत माटीपणो दाखज्यो
उधारो मतो राखज्यो आंटो।”

इतना ही नहीं, राजस्थानी साहित्य में कुल-क्रमागत बदला लेने की भावना का भी जिन शब्दों में उल्लेख हुआ है, वह मध्ययुग में जैसी भी रही हो, आज तो उसे त्याज्य ही ठहराना चाहिये। आज के राजनीतिक नेता यदि व्यक्तिगत प्रतिशोध की भावना से प्रेरित होकर देश-हित को ठुकराने लगे तो यह सर्वथा अनुचित होगा।

इसलिए युगानुरूप राजस्थानी शौर्य-भावना में भी वाछनीय परिवर्तन होना चाहिए। शौर्य-भावना वस्तुतः बड़ी उदात्त भावना है, वह मानवता और मानवीयता के दिव्य भावों से संपृक्त है तथा मनुष्य की सकाणता से ऊपर उठाकर उस दिव्य भव्य लोक में पहुँचा देता है जहाँ किसी उच्च ध्येय की प्राप्ति के लिए मृत्यु को भी ‘मरण-स्पोहार’ के रूप में मनाया जाता है। ऐसे भव्य चित्र राजस्थानी साहित्य में प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं और उनसे प्रत्येक युग प्रेरणा ग्रहण करता रहेगा।

पाँचवे दशक की यादें

डा. नारायणराव

बीसवीं सदी के बीस

सामाजिक दशाधे की एक नवीन

नवीन सामाजिक धर्मन के

अन्तर्द्वारा ही जिसमें एक

एक आध्यात्मिकता का न

आलोच, अन्तर्द्वारा नवीन

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

के एक ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

एक ही ही ही ही ही

लेकिन आदर्शवादी दृष्टिकोण ने उस समस्या को तिर के बल देगा और मनोवैज्ञानिक निदान तथा समाधान प्रस्तुत निया। पल्ल जी का व्यक्तिवाद आरम्भ में ही प्रकृति-रमण की रमानियन के माध्यम से व्यक्त होता रहा, इसलिए इस सन्नान्तियुग में भी उनमें मानवीन्मुख प्रतिक्रिया हुई। 'गुन्दर हैं विहग गुमन गुन्दर मानव । तुम सबसे गुन्दरतम । ' इसी परिवर्तन को उन दिनों लोगों ने यथाथं की म्वाहृति मानी। वारीकी में देखने पर ये 'मानव' और 'जीवन' शब्द भी पम्पुन अस्पष्ट, हवाई तथा आदर्शवादी लगेंगे। पल्ल जी का आरम्भिक प्रकृति-प्रेम ऊपर में देखने पर मानव-निरपेक्ष भले ही रहा हो, परन्तु वास्तव में यह रोमैण्टिक वैयक्तिकता की भावना से रंगा था। वस्तुतः प्रकृति समार का ही एक धग है और उसकी सुपमा सम्बन्धी सपूर्ण मान्यताएँ समाज की समसामयिक मान्यताओं से सम्बद्ध रहती हैं। इसीलिए जब 'युगान्त' में पल्ल जी प्रकृति में मानव को और आये तो वस्तुतः वे व्यक्तिवादी दृष्टिकोण से कुछ सामूहिकता की और भुडे या उसकी आकाक्षा से भर उठे। 'पल्लव' और 'ग्राम्या' के प्रकृति चित्रणों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

निराला और महादेवी में यह प्रतिक्रिया अधिक वैयक्तिक स्तर पर हुई क्योंकि आरम्भ से ही इन दोनों अहवादी प्रतिभाओं में व्यक्तित्व का उभार अधिक था। इनका 'अह' विरोधी शक्तियों से जितना ही टकराता गया, स्वर में उतनी ही उग्रता, स्पष्टता, निराशा तथा एकाकीपन घना होता गया। जिसके लिए 'दुख ही जीवन की कथा रही' उसने यदि यह अनुभव किया कि

मैं अकेला

देखता हूँ, आ रही मेरे दिवस की साध्य बेला

तो कोई आकस्मिक बात नहीं। हाँ, स्वानुभूति के कारण यथार्थ की पकड़ इतनी दृढ़ है कि हवाई मानव प्रेम अथवा दिखावटी समाजोन्मुखता की

आवश्यकता नहीं। घोर वैयक्तिक होने हुए भी निराला का स्वर सर्वाधिक विद्रोही, स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रहा है। महादेवी जी में आरम्भिक भावाकुलता में भिन्न बौद्धिक अवगाद तथा उद्बोधन की भावना जाग उठी।

इस व्यक्तिवाद ने एक ओर तो अपना विरोध किया और दूसरी ओर दमित जन पर बरणा करने की प्रवृत्ति दिखाकर अपनी सामाजिकता का परिचय दिया। निराला और उन दोनों ही महाकवियों ने ऊँचे में महानुभूति बिखेरी; परन्तु निराला ने यह भी कहा—

महज-महज पग धर आभो उतर

देखें वे सभी गुम्हे पथ पर।

रमानी कविता के व्यक्तिवाद तथा तज्जन्य असन्तोष, निराशा और नियतिवाद की स्पष्टतर और तोत्रतर अभिव्यक्ति बच्चन और नरेन्द्र ने की; क्योंकि ये हमी सत्रान्ति-युग की उपज थे। यहाँ भी नरेन्द्र में अपेक्षाकृत निर्वैयक्तिकता अधिक थी तथा बच्चन में वैयक्तिकता। 'सर्प' में टूटा हुआ बच्चन का कवि 'अग्निपथ' पर अधु-स्वेद-रक्त से लथपथ मनुष्य की ओर भी दृष्टि डालता है।

व्यक्तिवादी सामाजिकता का एक और रूप अराजकतावादी विप्लव के रूप में प्रकट हुआ, जिसमें 'उपलपुषस मथाने वाली तान' के कवि 'नवीन', 'दिनाशकारी बादल' के गायक भगवतीचरण वर्मा तथा 'विषयगात्रानि' की हुकार भरने वाले 'दिनकर' मुख्य हैं। यहाँ भी दलितों के प्रति कभी-कभी दूरस्थ सहानुभूति दिखाई पड़ती है। वर्मा जो की बहुप्रसन्न प्रगतिशील रचना 'भैंसा गाड़ी' इसका उत्कृष्ट उदाहरण है।

इस प्रकार दस दशक के आरम्भ में कवि के सामने सामाजिक उत्तर-दायित्व का प्रश्न अपूर्ण रूप में खड़ा हुआ और कवि ने व्यक्तित्व के समाजीकरण की आवश्यकता अनुभव की। रोमानी युग के बाद यह दयाध्वंसा का आरम्भ था।

विषय-वस्तु के साथ-साथ रूप-रस में भी परिवर्तन हुआ। बन्धना-धीमय, चित्र-मोह, शब्द-मोह, पेनबजा, कोरी भावुकता, सश्रित-नुहासा, साधारण कथा आदि साज-गज्जा जानी रही। तथ्यरूपन, धरापन, विचारगन प्रोढ़ता, गान्धी और गफार्द, मुक्त छंद का निर्वाण प्रवाह, भाषा में गद्यात्मक व्यवहारिकता आदि बानों का गमारेण हुआ।

कहना न होगा कि कविता का यह वस्तुगत रूप-परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के समानान्तर ही था। मध्यवर्गीय मान और मान्यताओं में सफट उपस्थित हो गया था, स्त्री-मुग्ध के सबध, मानव-श्रृति के सम्बन्ध तथा स्वयं मानव-समाज के भीतर अन्तर्ब्यक्तिक सम्बन्ध, मध्यवर्गीय ह्रास की छून से विपाक्त हो उठे थे। आर्थिक समस्याएँ सभी मान्यताओं से उभर कर स्पष्ट दिगार्द पहने लगी थीं। जागरूक जन मार्सवादी जीवन दर्शन के उदार मानवतावाद को नैतिक आस्था के रूप में मानने लगे थे। '४० से आरम्भ होने वाली नयी कविता में सबसे ऊँचा स्वर इसी नैतिकता का था और 'ग्राम्या' उसकी पहली पोथी बनकर सामने आई। आधुनिक हिन्दी कविता में यह यथार्थवाद की ओर पहला सजीव प्रयत्न था। एक ओर ग्राम-प्रकृति की अब तक उपेक्षित सुषमा का मुग्ध भ्रंजन, ग्रामीणजनों के हर्ष-उल्लासपरक नृत्यों की जीवत भावना तथा नाद्र-चेतना का चित्रण, ग्राम-युवती के अकृत्रिम स्वस्थ भासल सौंदर्य की प्रशंसा तथा दूसरी ओर रुढ़ि-जर्जर गाँवों की प्रपाओ पर प्रहार—ग्राम देवता की भर्त्सना, पतिगृह जाने वाली ग्रामवधू की नकली रलाई का उपहास—और इन सबके ऊपर साम्राज्यवादी व्यवस्था द्वारा ध्वस्त गाँवों की आर्थिक हीनता का मार्मिक उद्घाटन, ये सभी बातें कवि की जागरूक दृष्टि तथा व्यापक सहानुभूति का पता देती हैं। 'ग्राम्या' में नागरिक जीवन का भी चित्रण है और मध्यवर्गीय रोगों पर तेज रोशनी डाली गई है। 'आधुनिका' और 'स्वीट के प्रति' जैसी कविताएँ शहराती महिलाओं की कृत्रिम और रग्न शोभा साथ-साथ उनके अस्वस्थ यौन सम्बन्धों की भी भर्त्सना करती हैं,

१. लेकिन यह 'भय-मानवता' के लिए प्रभु—गंगाजी की रिमी अस्पष्ट आन्तरिक जगि व प्रतीक—ने निरट प्राची है ।

इस सामाजिक यथार्थवाद की अभिव्यक्ति 'निराला' जी में दूसरे स्तर पर हुई । गणपति में अह की गंगाजी ने उगरे मन को अत्यन्त शुद्ध और विशिष्ट कर दिया, एकाकी रिश्वत मन्त्रों और व्यस्य के रूप में बदल गया । निराला जी में पत जी की अंशता यथार्थ की अनुभूति अधिक निजी और सीधी रही, लेकिन गणपति और व्यस्यिया कम थी । ऐसे, आदर्श-वाद तथा अज्ञान जगि का भरोसा यहाँ भी उनका ही था । पत जी सामाजिक गणपति में भी तटस्थ होकर है, निराला जन-जन की संगी । भाग में 'कर्म आत्मी' में जन-जनपर की सामना करते हैं । व्यस्य को स्पष्ट होता ही पड़ता है और निराला जी में गामनी तथा गामाग्यवादी मान्यताओं पर बहुत स्पष्ट प्रहार किए हैं, लेकिन आरम्भ में यहाँ भी स्पष्टता न थी । 'बुद्धिमुक्ता' द्वारा 'वैपटिनिष्ट गुणाव' का उग्र निरोध तथा अपनी महानता का उद्भोष करने के बाद भी उसे उपमोहितावाद का शिकार बनाया जाता है । 'नये पते' की 'बुद्धि भोजने संगी', 'महँगू महँगा रहा' आदि कविताएँ निश्चय ही बहुत आगे बढ़कर बिमानों और मजदूरों की विवशता तथा जागरण को स्पष्ट शब्दों में कहती हैं । गजलों में कहीं-कहीं बिलकुल सीधी चोट की गई है—

पुला भेद विजयी कहाये हुए जो

सह दुमरे का पिये जा रहे हैं ।

लेकिन खेद के साथ कहना पड़ता है कि जिस निराला ने कविता को 'बहु-जीवन की छवि' कहा था, उन्होंने इस युग में जीवन की विविध अर्थ-भूमियों, गहरी अनुभूतियों तथा मानव और प्रकृति-सम्बन्धी मर्म-छवियों की समृद्धि का परिचय नहीं दिया जो पत जी की 'ग्राम्या' में कुछ हद तक प्राप्त होता है । केवल 'देवी सरस्वती' कविता इसका अपवाद है, जिसमें सांस्कृतिक

उतर कर भगी मैं हरे संत पहुँचो
 वहाँ गेहूँभो में तहर धूब मारी
 पहर-पहर क्या अनेकों प्रहर तक. . .

दरई मोहो का भी बिजय है, परन्तु यहाँ ग्राम्या की तरह कोरी
 तहानुभूति नहीं है। वणि रुद्रिबद्ध 'चित्रकूट के वीड़म यात्रियों' की मोठी
 बुद्धि भी भेता है; धँसू, चन्द्र, रनिमा की भी दुर्वलताओं पर तेज रोंगनी
 झाँकता है। उसके लिए ग्रामीण जन देवता नहीं हैं बल्कि मानव हैं और
 वे भी अपने सधे। इसलिये वह उनकी अथ पूजा न करके कटु आलोचना
 करता है। बहू मन्त्रर को शराब-खोरी और शहरी छोकरो की आबारागर्दी
 से भी भर्त्सना करता है। केदार के व्यग्य में निराला की सी विक्षिप्तता
 भरी, वणि बहोर सोहेय्यता तथा संयम है। समूचे व्यग्य को जनता की
 विजय का अडिग विश्वास, मार्मिक मानवीयता तथा शक्ति प्रदान करता है।
 ऐसे स्थलों पर स्वर में अद्भुत दृढ़ता आ जाती है—

घन गरजे जन गरजे
 बन्दी सागर को लख कातर
 एक शोध से
 घन गरजे जन गरजे
 क्षिति की छाती को लख जंजर
 एक शोध से
 घन गरजे जन गरजे !

केदार में पुराना आदर्शवाद नहीं मिलता। कुल मिलाकर उनमें वह
 जीवन की छवियाँ, अभिव्यक्ति के सीधे और व्यग्यगर्भी विधान, चित्र
 विधान का साधव तथा भावानुकूल नूतन सगीत-सृष्टि बड़े ही सहज ढंग
 से एकता मिल जाती है।

की निर्वैयक्तिकता से भिन्न प्रकार की निजी पीड़ा और बठोरता
 भी कविताएँ आयी। मिथिला के ठेठ गाँवों की मिट्टी

मे निपटा हुआ यह 'यात्री' देश-दशान्तरों के अनभवा और दृश्यों में उनका मूक्त हो उठा है कि सामाजिक चेतना उनकी मरम्बनी में जनता स्थापित हो उठी—कही व्यंग्य की तिक बौछार का कही रणना के मामिले उन्म, कही गैर्व प्रकृति के यथार्थ चित्र, तो कही शरीर टांग का उदघाटन । भाषा भी तदनुसृत—कही प्राञ्जलता तो कही ठेठ बाल-बाल । छन्द यात्रियों की बेगवती धारा में नाटकीय विधान घटित होना चलना है । इस रूप विज्ञान में बेदारनाथ का-सा नराश ना नहीं मिलता बल्कि मामिलता अधिष्ठ मिलती है, स्पष्टता और खरापन शायद सबसे अधिष्ठ । उनकी रचिनामा में ऐसी सहज आत्मीयता तथा ईमानदारी का नद्वय भरी रहनी है जो रूप विधान के सारे अनगदपन का ढँक कर मोछा रात्र करनी है ।

त्रिलोचन की 'घरती' (१४४ ई०) में सामाजिक चेतना का नारा बेदार और नागार्जुन का-सा तो नहीं मिलता, बल्कि परम्परा रही है निमिर्त मूलतः एक किसान कवि का हृदय बालना है । गैर्व प्रकृति का बरा ही स्वस्य उभार 'घरती' में हुआ है और ग्राम जीवन के अनक अलंभ चित्र दिये गये हैं—

तारको से ज्योति चस कर भूमि नन पर
आ रही है आ रही है आ रही है

× × ×

है घोंघेरी रात कल है व्याह का दिन
दीपको से गाँव का एकान्त अमर्षिन
जागती हैं नारियाँ

आज अपने गीत से वे नारको को है जगाती ।

'बम्पा', 'बूआ', 'भोरई केवट' आदि सामाजिक दृष्टादृश्यों के माध्यम से साम्यविक्ता मूर्तिमान हो उठी है । आगे चलकर, ५० में उनसे 'मानेटों' में ग्राम-जीवन का यह यथार्थ और गाढा हो उठा । त्रिलोचन की 'घरती' का

उतर कर भगी मैं हरे श्रेष्ठ पहुँची
 यहाँ गँहूँओं में सहृदय गूँब मारी
 पहर-दोपहर क्या अनेकों प्रहर तक. . . .

गैदर लोगों का भी चित्रण है, परन्तु यहाँ ग्राम्या की तरह कोरी सहानुभूति नहीं है। कवि रुद्रिबद्ध 'चित्रकूट के बौद्ध यात्रियों' की मीठी घुटकी भी सेता है; चँनू, चन्द्र, रनिया की भी दुर्बलताओं पर तेज रोगनी डालता है। उसके लिए ग्रामीण जन देवता नहीं हैं बल्कि मानव हैं और वे भी अपने सगे। इसलिए वह उनकी अध पूजा न करके कटु आलोचना करता है। यह मजदूर की शराब-प्योरी और शहरी छोरों की आवागमनी की भी भर्त्सना करता है। केदार के व्यंग्य में निराला की सी विक्षिप्तता नहीं, बल्कि कठोर सोद्देश्यता तथा मयम है। समूचे व्यंग्य को जनता की विजय का अट्टिग विश्वास, मार्मिक मानवीयता तथा शक्ति प्रदान करता है। ऐसे स्थलों पर स्वर में अद्भुत दृढ़ता आ जाती है—

धन गरजे जन गरजे
 बन्दी सागर को लख कातर
 एक रोष से
 धन गरजे जन गरजे
 क्षिति की छाती को लख जर्जर
 एक शोध से
 धन गरजे जन गरजे !

केदार में पुराना आदर्शवाद नहीं मिलता। कुल मिलाकर उनमें बहु जीवन की छवियाँ, अभिव्यक्ति के सीधे और व्यंग्यपूर्ण विधान, चित्र विधान का लाभ तथा भावानुकूल नूतन संगीत-सृष्टि बड़े ही सहज इन से एकत्र मिल जाती है।

केदार की निर्व्यक्तिकता से भिन्न प्रकार की निजी पीड़ा और कठोरता को लेकर नागार्जुन की कविताएँ आयी। मिथिला के ठेठ गाँवों की मिट्टी

समूह हो उठा है कि सामाजिक चेतना उसकी सम्बन्धी में शतधा रूपान्तरित हो उठी—कही व्यंग्य की तित्त बोछार, तो बड़ी वरणा के मार्मिक उन्म, कही गैबर्ड प्रवृत्ति के यथार्थ चित्र, तो बड़ी शहरी दोग या उदघाटन । भाषा भी तदनु रूप—कही प्राजलना तो कही ठेठ बोल-चाल । छन्द-योजना की बेगवनी धारा में नाटकीय विधान घटित होता चलता है । इस रूप-विधान में बेदारनाथ का-सा तराश तो नहीं मिलता, लेकिन मार्मिकता अधिक निरती है, स्पष्टता और खरापन शायद सबसे अधिक । इनकी कविताओं में ऐसी सहज आत्मीयता तथा ईमानदारी की नक़्क़ भरी रहती है जो रूप-विधान के सारे अनगठन का हँक कर मोड़ी चोंच करती है ।

त्रिलोचन की 'घग्नी' ('४५ ई०) में सामाजिक चेतना का उभार बेदार और मार्गार्जन का-सा तो नहीं मिलता, लेकिन परम्परा बड़ी है जिसमें मूलतः एक किसान कवि का हृदय बोलता है । गैबर्ड प्रवृत्ति का बड़ा ही स्वस्थ उभार 'घग्नी' में हुआ है और ग्राम जीवन के अनेक दुर्लभ चित्र दिये गये हैं—

तारको से ज्योति बल कर भूमि तल पर
आ रही है आ रही है आ रही है
× × ×
है छोड़ी रात बल है ब्याह का दिन
दीपको से गाँव का एकान्त अमलिन
जागती हैं नारियाँ
आज अपने गीत में वे तारको को है जगती ।

'बम्पा', 'बूआ', 'भोरई बेचट' आदि सामाजिक दुरावरो के सारसम से वास्तविकता प्रतिमान हो उठी है । आगे चलकर, ५० में उनके 'मनेटों' में ग्राम-जीवन का यह दृष्य और सादा हो उठा । त्रिलोचन की 'घग्नी' का

क्रमशः 'जीवन की लौ' के रूप में प्रज्ज्वलित हुई जिसमें मध्यवर्गीय समाज का खोखलापन उभारकर दिखाया गया। हरिव्यास के निर्ग्रन्थि व्यक्तित्व ने प्रकृति के अनेक मनोरम चित्र तथा त्रिमिक आस्था के तेजोदृप्त गीत लिखे हैं। समीक्षकों द्वारा उपेक्षित तथा अकाल ही धरती से उठ जाने वाले कवि बलराम की प्रतिभा ने अनेक जोहर दिखलाए। विषय-वैविध्य तथा रूप-वैभिन्य की दृष्टि से उन्होंने अनेक सफल रचनाएँ उपस्थित की और उस रूमानी छाया की सीमा में भी अद्भुत सामाजिक चेतना का परिचय दिया।

अन्य कवियों में से नेमिचन्द्र में शैथिल्य तथा एकाकीपन का भासिक विपाद गहरा है। उनकी निराशा का कारण 'तिरस्कृत व्यक्तित्व', 'जन की कुठितधार' तथा जीवन-शक्तियों से सहयोग न कर सकने की असमता है। समाज की इस शक्ति को उन्होंने अस्पष्ट रूप से 'विविध गतिमय प्राण-मय सचरित तत्त्व' नाम से ही स्मरण किया है। भारतभूषण में गत्यात्मक सामाजिक चेतना है, परन्तु बौद्धिक है, उनके ग्रन्थिहीन सादे मन में जहाँ स्वस्थ सौन्दर्य-दर्शन, व्यंग्य-बोझार या अपनी विवश सरलता का बोध है, वहाँ वे विशेष सफल हैं। प्रभाकर माचवे की कविता में यद्यपि अनुभूति की गहराई कम मिलती है तथा रूप विधान में अनमना कौतुक है, तथापि उनके हाथ व्यंग्यात्मक रेखाकन तथा नुकीले सूत्रों और सूक्तियों में अधिक भँजे हैं। भारती में जवानों की मिठास और रूप-रस के प्रति भासक्ति है तो रघुवीर सहाय में असमय वार्धक्य का प्रतीक बौद्धिक शुष्कता और जीवन से विरक्ति। समीतगर्भी प्रयोगों की शोनी खूबमूरती में बनी हुई सामाजिक चेतना के कवि शमशेर ने नयी कविता को संभवतः सबसे अधिक स्वर-सपन्न बनाया है, उनके चित्र-विधान में बारीकी तथा शब्दों में अत्यधिक मितव्ययिता अथवा अर्थ की दुरुहता है। उन्होंने अपनी उर्द कविताओं में अवश्य ही स्पष्ट बाँरपना भर दिया

है। इन नामों के साथ इनके मधर्मा कुछ और नये नाम जुड़ते हैं जिनमें सर्वेश्वर, केदारनाथ सिंह, अजित तथा भूयंप्रनाप के नाम मुख्य हैं।

इस युग की सीमा में 'अज्ञेय' की 'इत्यत्नम्' के उत्तरार्द्ध तथा 'हरी घास पर हाथ भर' की कविताएँ आती हैं। 'इत्यत्नम्' के उत्तरार्द्ध की अधिकांश कविताएँ समाज-निरपेक्ष व्यक्ति-मन की ग्रन्थियों और यौन-वर्जनाओं का आभक्तिपूर्ण तथा उलझाव-भरा चित्र उपस्थित करती हैं। लेकिन 'हरी घास पर हाथ भर' में आते-आते वे सामाजिक चेतना का महत्त्व समझने लगते हैं 'अपने से बाहर आने को छोड़ नहीं आवाग दूगरा'। वे अपनी 'अह अन्नगुहावासी स्वरति' आदि सीमाओं को स्वीकार करते हैं और ईमानदारी के साथ। इस ईमानदारी तथा लाचारी ने इस गग्रह की कविताओं में कुछ स्पष्टता तथा तन्मय गीतात्मकता भर दी है। इसमें महत्त्वपूर्ण अनुभूति की कोमलता प्रधान तथा बुद्धि की लज्जदार गौण है।

सामाजिक चेतना के इस तृतीय स्तर को प्रायः प्रयोगशील कविता के नाम में अभिहित किया जा रहा है। नाम को लेकर यहाँ कोई विशेष मतभेद नहीं, किन्तु इतना अवश्य है कि इन कवियों ने 'प्रयोग-आकाश' तथा 'रूप-विधान' पर इतना अधिक बल दिया है कि उक्त कवियों की कतिपय रचनाएँ रूपवादी अथवा प्रयोगवादी ही उठी हैं। जहाँ तक विषय-वस्तु का सम्बन्ध है, इन कवियों में प्रायः सबकी रचनाएँ हृदयानुसृत मध्यवर्गीय मान्यताओं की चौहद्दी में घिरी हैं, खरियत इनकी ही है कि इनमें में अधिकांश उम्र सीमा की तोड़ने के लिए आतुर है। हृदयानुसृत मान्यता की इन कविताओं का भी अपना मौन्द्य है तथा अपनी मर्याद-शीलता है, विशेषतः प्रकृति और प्रणय-सम्बन्धी अनुभूतियाँ अधिक मोहक और मर्मक है।

इस युग में कुछ ऐसी भी कविताएँ हुई हैं जिन्हें 'नव गुरुवार'

की गंगा ही जा सकती है। पुगने आदर्शवादी कवियों में जिन्होंने निम्न यग के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति प्रकट की थी, परन्तु उनका मूल मनोजगत व्यक्तित्वादी और आदर्शवादी था, उन्होंने नये रहस्य तोरु की शरण ली। श्री सुमित्रानन्दन पन्त, निराला, नरेन्द्र शर्मा, नवीन, भगुनतीचरण वर्मा आदि कवियों का प्रयाग इधर इसी ओर हुआ है। यहाँ नूतन रहस्यवाद छायावादी युग की रोमैण्टिक रहस्य-भावना से भिन्न है, क्योंकि इसमें उत्थानशील मध्यवर्गीय व्यक्ति की आशा-आकांक्षाओं तथा कल्पनाशीलता का वह स्वस्थ बोधन नहीं है। उस रहस्य-भावना में बार-बार 'प्रभु' का आश्रय नहीं लिया जाना था। वह चेतन-मत्ता समाज की अन्तर्निहित शक्ति थी जो उस 'युगधर्म' का संचालन कर रही थी। इस 'नूतन रहस्यवाद' में वह सामर्थ्य तो नहीं है किन्तु उदार मान्यतावाद अवश्य है जो मध्यवर्गीय कुण्ठाग्रस्त कविताओं से श्रेयस्कर प्रतीत होता है। इस 'नूतन रहस्यवाद' में भी स्तर-भेद हैं। नवीन जी में यह गैदाल्टिक तथा नैराश्यमूलक है, पन जी में 'विराट मानवता' का विनाश तानता है, 'निराला' की 'अर्चना' का रहस्यवाद यथार्थ की पीड़ा से सिक्त है; नरेन्द्र की रहस्यभावना लोकाध्यायी है।

इसके अतिरिक्त बच्चन, शम्भुनाथ सिंह, जानकीवल्लभ शम्भू, हमकुमार नियारी आदि गीतों के राजकुमार भी रचनारत रह। ठाकुर प्रसाद सिंह के मौलिक से प्रतीत होने वाले संभाली गीतों के अनुवाद इसी कोटि में आएँगे। इन कविताओं में मुख्यतः यथार्थ चित्रण से भिन्न भाव-कल्पित सुख-दुःख का रोमानी चित्रण मिलता है, परन्तु युग के अनुसंग कुछ-कुछ सामाजिक चेतना भी आई है।

इस प्रकार पिछले दशक में हिन्दी कविता में मुख्यतः तीन प्रवृत्तियाँ रही हैं—सामाजिक यथार्थवाद, रूपवाद तथा नूतन रहस्यवाद। अनेक कवियों में एकाधिक प्रवृत्तियाँ एक-साथ मिलती हैं। कुछ ऐसे हैं जिनमें आरम्भ में एक प्रवृत्ति प्रधान थी, परन्तु धीरे-धीरे दूसरी प्रधान हो

गई। विभिन्न वर्गों के सम्कारों और मान्यताओं वाले समाज में इस प्रकार की परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है, परन्तु यह निष्कर्ष कहा जा सकता है कि इस दशक में सामाजिक यथार्थवाद की कविता परिस्थितियों के साथ क्रमशः प्रौढ़, मानवोचित और जीवन-मोन्दपं से परिपूर्ण होती गई। भविष्य इसी कविता के हाथ है, यह सभी अनुभव कर रहे हैं। रूपवादी कवियों ने इसे अनगढ़, कलाहीन, आभोश-पूर्ण तथा एकांगी कहा है, लेकिन यह उनकी मध्यवर्गीय दृष्टि की सीमा का परिणाम है। इन कविताओं में अनगढ़पन हो सकता है और बहुत सम्भव है वह कवि की असावधानी अथवा शक्ति की सीमा के कारण हो, परन्तु रूपवादियों की इस समीक्षा के पीछे जो उद्देश्य है वह श्रमिक-वर्ग की मान्यताओं तथा रचनाओं के प्रति सहस्रवेदनहीन है। प्रश्न यह है कि विकास के बीज किस कविता में हैं? रूपवादी रचनाओं में कुछ सफल, सुन्दर, आकर्षक और मोहक प्रतीत हो सकती हैं, लेकिन उनमें वह जीवनी शक्ति नहीं है जो बहुजन को स्पन्दित कर सके। कुछ रूपवादी कवियों ने अपना जन-प्रेम प्रदर्शित करने के लिए लोकगीतों को भी घुने अपनाई है तथा कुछ ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है, किन्तु वह अपनाव नहीं बल्कि चेतना को अलग करके शरीर का अपहरण है। लोक-काव्य रचने के लिए लोकगीतों की धुन तथा शब्द अपनाना ही बारी नहीं है; देखना यह है कि वे लोकगीत किस ऐतिहासिक भूमिका के हैं। लोकगीतों का भी भावरूप में विकास होना है और आज के कवि के लिए आवश्यक है कि वह अपने समसामयिक लोक-काव्य में प्रेरणा ले। लेकिन देखा तो यह जा रहा है कि शिष्ट कवि ब्याह-गादी, मेला-छेला, झुला-चमड़ी, बिस्वा आदि पुराने लोकगीतों को ही अपनाकर निहाल हो रहे हैं। लोक-जीवन तथा काव्य के प्रति यह रुझान दृष्टिकोण है।]

[निस्संदेह सामाजिक यथार्थवाद की मज्जी कविता सोरु-काव्य से ही उत्पन्न और विकसित होगी, लेकिन सोरु-काव्य के रचयिताओं को इन योग्य बनाने के लिए वर्तमान मध्यवर्गीय कवि जनशिक्षार्थ काव्य की रचना करते रहेंगे। निस्संदेह इन दश वर्षों में जागरूक कवियों ने इस दिशा में यथार्थानुसार परिश्रम किया है।]

इस अवधि में कुछ कवियों ने कविता का समृद्ध बनाने के लिए नवीन अर्थ-व्यञ्जना वाले कुछ नये शब्दों का प्रयोग किया है तथा पुराने शब्दों में नयी अर्थ-व्यञ्जना भरी है। परन्तु शब्द-भण्डार की दृष्टि से समृद्ध होती हुई भी इस प्रकार की रचनाएँ भीमिष और दरिद्र हैं, क्योंकि ये प्रयोग ही सार्वजनिक मूल्यों वाले शब्दों से रिक्त हैं। दूसरे शब्दों में इनकी दरिद्रता का कारण इनके पाठकों की सीमा है।

यही दशा छन्दोविधान की बहुलता के विषय में है। नये-नये स्वरों का उपयोग करने अथवा खड़ी हिन्दी की लय में भँगरेजी ढंग का स्वर-पात, बलापात देने से ही कविता समृद्ध नहीं होती। यदि यही बात होती तो केशव की 'रामचन्द्रिका' तुलसी के 'रामचरितमानस' से बहुमान पाती। मध्यवर्गीय अन्तर्द्वन्द्व-प्रधान रूपवादी कवियों ने छन्द-व्यविध्य का बहुत ध्यान रखा है। इस प्रयोग का भी मूल्योंकेन पाठकों की सीमा के ही अनुसार होगा।

इसी प्रकार इस युग की कविता में आधुनिक भँगरेजी वाक्य-विन्यास की 'पैरेन्थीसिस', कोष्ठक, भावानुकूल विरामचिह्न, ध्वनि प्रतीक-योजना, दिवास्वप्न विधान, फ्री एसोसिएशन आदि के जो प्रयोग किए गए उनका मूल्यांकन उस मध्यवर्गीय विषय-वस्तु की ध्यान में रखकर ही किया जायगा।

इन तमाम असंगतियों के बावजूद पिछले दशक की कविता के विषय में ये तीन बातें निश्चित रूप से कही जा सकती हैं—

१—कविता में यथेष्ट विस्तार तथा अधर्मादि का प्रसार [४५] यदि मायाकोट्यादी से शब्द मेवर बहे तो—

आज हमारे रंग की हुई बूँची महब
घोर बँनवग हुई पार्श्व गनियो खो गये ।

२—यही हिन्दी में सोव-बट के अनुकूल बहना आते । १९६१ ई० में मज़ूर बहिनियों ने उठी हुई माजी बूँची भाषा सीखा की अन्तर्गत बहिनियों में मैत्र गर्त । भाषा में बारीकी के साथ एक नया आज़ आया ।

३—इस युग की कविता ने सामाजिक उत्तरदायित्व की विचारों को प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में व्यक्तार्थि अनुभव प्राप्त दिया । दुर्गम स्थानों-बाद की सीमाएँ तथा असामान्यता समाज की सीमाएँ तथा असामान्यता है । भिन्न कविता का प्रधान स्वर मानव-जन्म की कल्पना दिना की सम्पन्नता रहा ।

इस प्रकार इन इन बहनों की कविता हिन्दी कविता की अन्तर्गत मानवतावादी परम्परा की युग की आवश्यकता के अनुसार आये बहिनियों है ।

शेक्सपियर के दुःखान्त नाटक : नैतिक

मूल्यों की समस्या

[डा० रामविलास शर्मा]

शेक्सपियर ने उन युग में जन्म लिया था जो यूरोप में पुनर्जागरण (रिनेसेंस) के नाग से प्रगिद्ध है। वास्तव में यह नवजागरण का युग था जब यूरोप में नई जातियों का अभ्युदय हुआ; पुराने सामन्ती सम्बन्धों के बदले समाज में नये मानव-सम्बन्ध कायम हुए। यह पूँजीवाद का अभ्युदय काल था। अँगरेजों में नई जातीय चेतना फैली, उन्होंने अपनी भाषा और साहित्य का अभूतपूर्व विकास किया। अँगरेज आलोचक टिल-याडें ने मध्यकालीन इंग्लैण्ड और इस नवजागरण के युग में अनेक समान-ताएँ दिखलाई हैं। फिर भी इन प्रचलित धारणा की सच्चाई खडित नहीं होती कि यह नवीन युग मध्यकालीन परम्परा से मूलतः भिन्न था। ब्रैडले ने ठीक लिखा है कि शेक्सपियर के नाटक परलोक-चिन्तन से भिन्न मनुष्य के लौकिक जीवन को केन्द्र बनाकर रचे गये हैं। शेक्सपियर के सम्बन्ध में यह स्वीकृत दृष्टिकोण इस बात का प्रमाण है कि यह नया युग मध्यकालीन परम्परा से भिन्न था और यह भी कि इन नये इहलोक-वादी दृष्टिकोण के प्रतिनिधि कलाकार शेक्सपियर हैं।

शेक्सपियर नये युग के प्रतिनिधि साहित्यकार थे, साथ ही यह प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा के भूग्यवान् नैतिक तत्त्वों के रक्षक भी थे। उनके साहित्य में इंग्लैण्ड की लोक-संस्कृति को ही नया जीवनदान नहीं मिला वरन् यूनान की प्राचीन संस्कृति की अमिट छाप भी उस साहित्य पर है। शेक्सपियर के लिए प्रसिद्ध है कि उनकी प्रतिभा प्रकृति की सहज

देन थी, उन्हें भेंटिन बहुत कम आती थी और ग्रीक उगम भी कम। इस प्रेरितन धारणा के कारण शेक्सपियर और यूनानी नाटककारों के साम्य पर कम ध्यान दिया गया है। साधारणतः यूनानी नाटकों के लिए कहा जाता है कि उनमें मनुष्य बर्मे करने में स्वतन्त्र न होकर निर्धार के हाथों में घुलता है। शेक्सपियर में मनुष्य बर्मे करने में स्वतन्त्र है और इसलिए अपने बर्मे से अपना भाग्य स्वयं रचता है। इस धारणा में आशिश साम्य अवश्य है किन्तु यह साम्य आशिश ही है।

पाँचवीं शती ईसा पूर्व में दृष्टिकलम ने प्रोमीथियस के सम्बन्ध में अपने नाटक रचे थे। 'परमन्त्र प्रोमीथियस' में नाटक की समस्या रिमी का सम्बन्धी की हत्या अथवा परिवार के रिमी निवृत्त सम्बन्धी में अविश्रुत प्रेम सम्बन्ध नहीं है। इस तरह की समस्याएँ अनेक यूनानी नाटकों में मिलती हैं जिसका कारण एक सम्बन्ध पर आधारित प्राचीन समाज में नई व्यवस्था की घोर सन्नमन था। दृष्टिकलम के प्रोमीथियस की दायता का कारण उत्तम मानव प्रेम है। उसने देवताओं के अधिनति की कक्षा करने मनुष्य की सहायता की है। उसके अभिमान को तोड़ने के लिए अनेक प्रयत्न किये जाने हैं किन्तु यह अपनी आस्था पर प्रतिक्रिया रहता है। उसके हृदय में मानव जाति के लिए अराजक बरपा है यद्यपि देवताओं के अधिनति के हृदय में उसके लिए बरपा नहीं है। उसके मनुष्य के हृदय में आशा का बीज बो दिया है और इसे बढ़ अपनी बहुत बड़ी सहायता मिलता है। उसने जो कुछ किया, वह निर्धन के कारण नहीं बल्कि 'संस्कृत में, अपनी आँखों में आती परिष्कार को देखने हुए।' प्रोमीथियस मानव-व्यवस्था के लिए आकाशवाणी देव-अधिनति में गहरे घाता कर है।

रॉस के सम्बन्ध में यह धारणा शेक्सपियर की भी है। प्रोमीथियस की के उत्तरार्द्ध में वैज्ञानिक समाजवाद के विकास के बाद यह नई धारणा प्रकट हुई कि दृष्टिकलम के निर्दिष्ट सम्बन्ध सत्य है। किन्तु

दृष्टिकोण और शेक्सपियर दोनों ही के युगों में इस धारणा से साहित्य-
 कार परिचित न थे। यही कारण है कि शेक्सपियर के नाटकों में इतिहास
 के निर्माता साधारण जन नहीं हैं वरन् कुछ विशेष गुणों वाले वीर हैं।
 शेक्सपियर ने 'जूलियस सीज़र' में ब्रूटस को ऐसे ही वीर के रूप में चित्रित
 किया है। ब्रूटस के शत्रु भी उसकी मृत्यु के बाद स्वीकार करते हैं कि
 उसने जो कुछ किया, वह सार्वजनिक हित के लिए ही किया। उसके
 शत्रु अधिक चतुर थे, साथ ही वे सिद्धान्तहीन स्वार्थसेवी भी थे।
 ब्रूटस को सत्ता की आकांक्षी नहीं है, उन्हें है। वह अपने आदर्श पर
 अडिग रहता है और विजय के लिए अनैतिक उपायों से काम लेना अस्वी-
 कार करता है। इसलिए वह पराजित होता है किन्तु उसकी यह पराजय
 ही उसकी विजय है। उसकी मृत्यु उसके प्रतिद्वन्द्वियों को नीचा दिखाती
 है। अन्य नाटकों में शेक्सपियर ने लोकहित की समस्या को इसी रूप
 में नहीं लिया किन्तु इस समस्या के प्रति उसके अनेक नायक सचेत अवगत
 हैं। हैमलेट की प्रसिद्ध उक्ति है कि समय अव्यवस्थित हो गया
 है किन्तु वह उसे व्यवस्थित करने में अपने को असम पाता है।
 'कोरिओलानस' और 'जूलियस सीज़र' में शेक्सपियर ने जनता को
 राजनीतिक क्षेत्र में चंचल, असावधान और दूसरों के कहने में आ जाने
 वाली दिखाताया है। जनता शिक्षित होकर अपने ऊपर स्वयं शासन
 करने लगे, यह अत्यन्त कठिन कर्म है। आज भी यह सत्य पूरी तरह
 सिद्ध नहीं हुआ। शेक्सपियर ने यथार्थ-चित्रण ही किया है। फिर भी
 यह उल्लेखनीय है कि उनके नाटकों के खतनायक जनता से त्रस्त रहते
 हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को जनता से दूर रखने का प्रयत्न करते हैं।
 हैमलेट के शत्रु क्लौडियस ने अपने भाई की हत्या की है और उसकी
 पत्नी से विवाह कर लिया है। हैमलेट से उसे भय है और वह उसे विदेश
 भेजने की योजना बनाता है। वह हैमलेट को देश में खुले घूमने
 न छूट नहीं देना चाहता क्योंकि "चंचल-चित्त जनता उसे प्यार करती

है। 'किंगलियर' में अन्धा ग्लोस्टर जहाँ-जहाँ घूमकर लियर की क्रूर सहकियों के प्रति जनता का रोष जाग्रत करता है। रीगन कहती है "हमने वही मूर्खता की जो ग्लोस्टर की आँखें निकालने के बाद उसे जीना रहने दिया। जहाँ भी वह जाता है, वह सभी को हमारे विरुद्ध आन्दोलित कर देता है।"

शेक्सपियर ने हस्तिकतम की तरह ऐसे बीर चित्रित किए जिनके हृदय में मनुष्य के लिए करुणा है। हमसे भी अधिक यह कि प्रोमीथिया की तरह वे आँखें खोलकर स्वेच्छा से कार्य करने वाले बीर हैं, किसी नियति के हाथ में कठपुतलियाँ नहीं। विन्नु शेक्सपियर में नियतिवाद का नितान्त अभाव भी नहीं है। "मैकबेथ" में दैवी अथवा अर्द्धदैवी शक्तियों को मैकबेथ का भविष्य पहले ही मालूम है। यद्यपि मैकबेथ कार्य करने में स्वतन्त्र है, फिर भी यह स्पष्ट है कि एक प्रकार से उसका भाग्य पहले ही निश्चित हो चुका है। अनेक नाटकों में प्राकृतिक उपल-पुषल मानो यह सवेन करती है कि मानव-जीवन की घटनाएँ उस उपल-पुषल में भी प्रभावित हैं। हमारे अनिर्मित शेक्सपियर के अनेक पात्र अपनी उक्तियों से बराबर नियति की याद दिलाते हैं। ईमार्श प्रभे द्वारा प्रचारित पाप-मुक्त की भावना और स्वर्ग-नरक की धारणा में यह नियतिवाद बिलकुल भिन्न है। वह यूनानी नाटककारों के नियतिवाद का ही नया मस्तरण है। देवता क्रूर हैं और वे अपने विरोध के लिए मनुष्य को पीड़ा देते हैं, इस धारणा को शेक्सपियर ने अपने पात्रों द्वारा व्यक्त कराया है। फिर भी कूल मिनाबन यूनानी नाटकों को अनेक शेक्सपियर में नियतिवाद कम है, अनेक नाटकों में स्वतन्त्र बना मानव के बिना को शेक्सपियर ने अधिक विवर्धित और परिष्कृत किया है।

यूनानी नाटकों में निरुद्ध के रत्न-जम्बन्धी की हत्या करने वाले एन्त के रूप में चित्रित की गई है। शेक्सपियर के युद्ध में इस तरह का एन्त कोई मुख्य सामाजिक समस्या नहीं; फिर भी यूनानी नाटकों के प्रकार से एन्त

इस्कानस और शेक्सपियर दोनों ही के युगों में इस धारणा से साहित्य-कार परिचित न थे। यही कारण है कि शेक्सपियर के नाटकों में इतिहास के निर्माता साधारण जन नहीं हैं बल्कि कुछ विशेष गुणों वाले वीर हैं। शेक्सपियर ने 'जूलियस सीज़र' में ब्रूटस को ऐसे ही वीर के रूप में चित्रित किया है। ब्रूटस के शत्रु भी उसकी मृत्यु के बाद स्वीकार करते हैं कि उसने जो कुछ किया, वह सार्वजनिक हित के लिए ही किया। उसके शत्रु अधिक चतुर थे, साथ ही वे सिद्धान्तहीन स्वार्थसेवी भी थे। ब्रूटस को सत्ता की आकांक्षी नहीं है, उन्हें है। वह अपने आदर्श पर अटिग रहता है और विजय के लिए अनैतिक उपायों से काम लेना अस्वीकार करता है। इसलिए वह पराजित होता है किन्तु उसकी यह पराजय ही उसकी विजय है। उसकी मृत्यु उसके प्रतिद्वन्द्वियों को नीचा दिखाती है। अन्य नाटकों में शेक्सपियर ने लोकहित की समस्या को इसी रूप में नहीं लिया किन्तु इस समस्या के प्रति उसके अनेक नायक सचेत अवगत हैं। हैमलेट की प्रसिद्ध उक्ति है कि समय अव्यवस्थित हो गया है किन्तु वह उसे व्यवस्थित करने में अपने को अक्षम मानता है। 'कोरिओलानस' और 'जूलियस सीज़र' में शेक्सपियर ने जनता को राजनीतिक क्षेत्र में चबल, असावधान और दूगरो के कहने में आ जाने वाली दिखाता है। जनता शिथिल होकर अपने ऊपर स्वयं शासन करने लगे, यह अत्यन्त कठिन कर्म है। आज भी यह सत्य पूरी तरह सिद्ध नहीं हुआ। शेक्सपियर ने यथार्थ-चित्रण ही किया है। फिर भी यह उन्मेषनीय है कि उनके नाटकों के छावनायक जनता में सतत रहते हैं और अपने प्रतिद्वन्द्वियों को जनता में दूर रखने का प्रयत्न करते हैं। हैमलेट के शत्रु क्लौडियस ने अपने भाई की हत्या की है और उगधी पानी में बिबाह कर लिया है। हैमलेट ने उसे भय है और वह उसे विदेश क्षेत्रों की योजना बनाता है। वह हैमलेट को देश में लूटे घुसने की छुट नहीं देना चाहता क्योंकि "बकन-बिल जनता उसे धार करती

है। "विनियम" में अन्धा स्नोस्टर जहाँ-जहाँ घूमकर नियम की पूर सरियों में प्रति जनता का रोप जापन करना है। रीगन कहती है "हमने बड़ी मृगंता की जो स्नोस्टर की आँखें निवासन के बाद उसे जीता रहने दिया। जहाँ भी वह जाता है, वह सभी का हमारे विरुद्ध आन्दोलन कर देता है।"

शेक्सपियर ने दृष्टिस्तम की तरह ऐसे वीर चित्रित किये जिनके हृदय में मनुष्य के लिए बरणा है। इससे भी अधिक यह कि प्रोमीथियस की तरह वे आँखें खोलकर स्वेच्छा से कार्य करने वाले वीर हैं, किसी नियति के हाथ में बटगुतलियाँ नहीं। किन्तु शेक्सपियर में नियतिवाद का निगलन अभाव भी नहीं है। "मैकबेथ" में दैवी अथवा अर्द्धदैवी शक्तियों को मैकबेथ का भविष्य पहले ही मालूम है। यद्यपि मैकबेथ कार्य करने में स्वतन्त्र है, फिर भी यह स्पष्ट है कि एक प्रकार से उसका भाग्य पहले ही निश्चित हो चुका है। अनेक नाटकों में प्राकृतिक उपल-पुष्य मानो यह सबेन करती है कि मानव-जीवन की घटनाएँ उस सपन-गुथल में भी प्रभावित हैं। इसके अतिरिक्त शेक्सपियर के अनेक पात्र अपनी उक्तियों से बराबर नियति की याद दिलाने हैं। ईसाई धर्म द्वारा प्रचारित पाप-मुण्य की भावना और स्वर्ग-नरक की धारणा से यह नियतिवाद बिलकुल भिन्न है। यह यूनानी नाटककारों के नियतिवाद का ही नया संस्करण है। देवता क्रूर हैं और वे अपने विनोद के लिए मनुष्य को पीड़ा देते हैं, इस धारणा को शेक्सपियर ने अपने पात्रों द्वारा व्यक्त कराया है। फिर भी कुल मिलाकर यूनानी नाटकों की अपेक्षा शेक्सपियर में नियतिवाद कम है, अपने नाटकों में स्वतन्त्र वर्तमान मानव के चित्र को शेक्सपियर ने अधिक विकसित और परिष्कृत किया है।

यूनानी नाटकों में निवट के रक्त-सम्बन्धी की हत्या के रूप में चित्रित को गई है। शेक्सपियर ने मुख्य सामाजिक

नाटक में यह समस्या भी जहाँ-तहाँ उभर कर आई है। उदाहरण के लिये "हेमलेट" में क्लौडियस अपने भाई का हत्यारा है। किसी यूनानी नाटक के पात्र की तरह उसे अपना जीवन अभिशप्त दिखाई देता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करना चाहता है लेकिन उसके हाथ नहीं उठते। मैकबेथ डकन की हत्या करता है जो राजा होनेके अतिरिक्त उसका रक्त सम्बन्धी भी है। क्लौडियस को सगता है कि उसके हाथों से भाई का रक्त छूट नहीं सकता, उसी तरह मैकबेथ को लगता है कि समुद्र का जल भले ताल हो जाय, उसके हाथों का रक्त छूट नहीं सकता। मैकबेथ अनेक हत्याएँ करता है लेकिन उसके घोर पश्चात्ताप होता है डकन की हत्या से ही। इसका मुख्य कारण यह मालूम होता है कि यह एक रक्तसम्बन्धी की हत्या है। मैकबेथ का पश्चात्ताप उन यूनानी वीरों की याद दिलाता है जो जान या अनजान में इस तरह की हत्या करके पश्चात्ताप करते हैं। 'किंग लियर' में इस तरह के रक्तसम्बन्धी की हत्या तो नहीं है किन्तु एडमण्ड अपने पिता ग्लोस्टर और रीगन तथा गेनिरिस अपने पिता लियर की मृत्यु चाहती अवश्य हैं।

यूरीपिडिस के नाटक 'अलसेस्टिस' की कथा सावित्री-मृत्युवान की कथा से मिलती-जुलती है। अलसेस्टिस स्वेच्छा से मृत्यु को वरण करके अपने पति को प्राणदान दिलाती है। हरकुतिस मृत्यु से युद्ध करके अलसेस्टिस को वापस लाकर उसे पति को सौंप देता है। एगेलस में जिस व्यक्तिगत प्रेम को यूरोप-नवजागरण का एक महान् नैतिक मूल्य माना था, उसकी चरम अभिव्यक्ति यूरीपिडिस के इस भ्रमंस्पर्शी नाटक में हुई है। अलसेस्टिस के पति का विलाप पढ़कर 'रघुवश' में इन्दुमती के लिए बिनाप याद आ जाता है। जेक्सपियर की पोथिया, ओफीलिया, डेस्डमोना आदि नारी-पात्र उसी उत्कट प्रेम की अभिव्यंजना करती हैं जिसकी साकार प्रतिमा अलसेस्टिस है। उसके विपरीत इस्किलस की क्लैतेमनेस्त्रा है जो अपने पति की हत्या करती है और यूरीपिडिस की

मोदिआ है जो अपने पति से प्रतिशोध लेने के लिए अपने पुत्रों की हत्या करती है। इनकी छाया लेडी मैकबेथ पर पड़ी है जो हत्या के लिए अपने पति को उकसाती है यद्यपि उमका मा मानसिक उद्वेग विन्नेमनेस्त्रा और मोदिआ में नहीं है। यूनानी नाट्यकारों की इन रक्तरजिता देवियों में एक तरह की गरिमा है जो शेक्सपियर ने लेडी मैकबेथ जैसे पात्रों को प्रदान की है।

इन सबसे यही सिद्ध होता है कि शेक्सपियर ने यशों की प्राचीन मास्युनिक परम्परा के अनेक तत्वों को ग्रहण किया है। फिर भी उनसे पुष्पान्त नाटकों की समस्याएँ और उनके चित्रण की पद्धति एक नये युग की देन है। 'मोपेलो' में शेक्सपियर ने प्रेम और ईर्ष्या की समस्या को है जिसका दायरा 'हैमलेट' या 'विन लियर' की अपेक्षा मरुचित्र है। मोपेलो ने अपने से भिन्न गौरवों की नारी टैरिडमोना से विवाह किया है। दशागो उसके हृदय में मन्देह और ईर्ष्या की आग प्रज्वलित कर देता है और वह क्षुब्ध होकर टैरिडमोना की हत्या कर डालता है। दशागो—मोपेलो से अधिक—इस नाटक को अपने युग की प्रतिनिधि रचना बनाना है। दशागो में मेधा है, आत्मविश्वास और आत्मनियन्त्रण है, नैतिक मूल्यों के प्रति पूर्ण उदासीनता है, दूसरों को ठगाने या पीछा देने में उसे बालमय आनन्द प्राप्त होता है। इस तरह के नैतिकमूल्य, पूर्ण रूप से नृणम पात्र यशों-नवजागरण की विशेषता है। स्वायत्त-गणना के लिए नैतिक भावनाओं का पूर्ण त्याग अनेक विचारकों का शूरा गिडान्त था। उपनिवेश बनाने वाले दण्ड और दासों के निर्दय व्यवहारों निन्दित इस गिडान्त को व्यवहार में लाते थे। 'मोपेलो' में वही नर-जारी के पवित्र प्रेम की भयाना का चित्र है, वही दशागो की इस अनेक मूल्य का समर्थ चित्रण भी है। जिसमें मानो पृथ्वी-वाद के अन्तर्द्वार का स्थान बलुप मर्चिण कर दिया गया है।

मैकबेथ दशागो की अतीत नैतिक भावना में मूल स्वर बदलने का चे-

नाटको में यह समस्या भी जहाँ-तहाँ उभर कर आई है। उदाहरण के लिये "हेमलेट" में क्लौडियस अपने भाई का हत्यारा है। किसी यूनानी नाटक के पात्र की तरह उसे अपना जीवन अभिशप्त दिखाई देता है। वह ईश्वर से प्रार्थना करना चाहता है लेकिन उसके हाथ नहीं उठते। मैकबेथ डकन की हत्या करता है जो राजा होनेके अतिरिक्त उसका रक्त सम्बन्धी भी है। क्लौडियस को लगता है कि उसके हाथों से भाई का रक्त छूट नहीं सकता, उसी तरह मैकबेथ को लगता है कि समुद्र का जल भले लाल हो जाय, उसके हाथों का रक्त छूट नहीं सकता। मैकबेथ अनेक हत्याएँ करता है लेकिन उसके घोर पश्चात्ताप होता है डकन की हत्या से ही। इसका मुख्य कारण यह मालूम होता है कि यह एक रक्तसम्बन्धी की हत्या है। मैकबेथ का पश्चात्ताप उन यूनानी वीरों की याद दिलाता है जो जान या अनजान में इस तरह की हत्या करके पश्चात्ताप करते हैं। 'किंग लियर' में इस तरह के रक्तसम्बन्धी की हत्या तो नहीं है किन्तु एडमण्ड अपने पिता ग्लोस्टर और रीगन तथा गेनरिल अपने पिता लियर की मृत्यु चाहती अवश्य है।

यूरीपिडिस के नाटक 'अलसेस्टिस' की कथा सावित्री-सत्यवान की कथा से मिलती-जुलती है। अलसेस्टिस स्वेच्छा से मृत्यु को वरण करके अपने पति को प्राणदान दिलाती है। हरकुलिस मृत्यु से युद्ध करके अलसेस्टिस को वापस लाकर उसे पति को सौंप देता है। एंगेलस ने जिस व्यक्तिगत प्रेम को यूरोप-नवजागरण का एक महान् नैतिक मूल्य माना था, उसकी चरम अभिव्यक्ति यूरीपिडिस के इस भ्रमंस्पर्शी नाटक में हुई है। अलसेस्टिस के पति का विलाप पढ़कर 'रघुवंश' में इन्दुमती के लिए विलाप याद आ जाता है। शेक्सपियर की पोथिया, ओफीलिया, डेस्डमोना आदि नारी-पात्र उसी उत्कट प्रेम की अभिव्यंजना करती हैं जिसकी साकार प्रतिमा अलसेस्टिस है। उसके विपरीत इस्किला की क्लितेमनेस्त्रा है जो अपने पति की हत्या करती है और यूरीपिडिस की

हैमलेट कहता है कि यह बात बस-जे-बस हेनमार्च के लिए मारी है ।
 वचन और कर्म का अन्तर शेषमयिधर के लिए महान् अनीतिवत्ता ॥ और
 इसलिए वह राजा के मुगाहियों पर ध्यय करने का बोर्ड भी अवगार हाथ
 में नहीं जाने देने । पोपोनियम राजा का मारी है । वह बेहद धातूनी है
 यद्यपि यह मानता है कि जोरदार बात गद्योप म ही की जा सकती है ।
 अपने गुरुविन अभिजात वर्गीय बालावरण में वह जो भी धारणा बना
 लेता है, उसे हरिम की मडकी की तरह पचड़े रहता है । हैमलेट उसकी
 लडकी घोरीनिया में प्रेम करता है किन्तु इस प्रेम का उगके लिए कोई
 मूल्य नहीं है । वह हैमलेट को साधारण बामुक नवयुवक समझकर
 घोरीनिया पर दबाव डालता है कि उसमें सम्बन्ध-विच्छेद कर ले ।
 बाद को हैमलेट के मानसिक विशोभ का कारण जानने के लिए वह कहता
 है, 'मैं उगके सामने अपनी मडकी छोड़ दूँगा' मानो कबूतर के सामने
 चारा डाल रहा हो ।

पोपोनियम के मूँह में ईमानदारी का शब्द सुनकर हैमलेट कहता है,
 "जमी दुनिया है, उसमें ईमानदार होने का मतलब है, हजार आदमियों
 में सिमी एक को ढूँढ़ निकालना ।" वह पोपोनियम में बुद्धि और साहस के
 अभाव पर ध्यय करता है । उसे चेतावनी देता है कि अपनी लडकी को
 स्वच्छन्द न घुमने दे, बर्ना मृत पशुओं में कुमिकीटो की तरह वह भी गर्भ
 धारण कर लेगी । हैमलेट के लिए उगका देज और मारा ससार एक
 बन्दीगृह के समान है । उसे लगता है कि धरती अनुवंश है; नशत्रमडित
 आवाश दूषित वायुमण्डल मात्र है, बुद्धि और कर्म में थोड़ा मानव मिट्टी
 का पुतला भर है । उसे न पुरुष की सगति में आनन्द आता है, न मारी
 की सगति में । पोपोनियम अभिनेताओं से उचित व्यवहार का आग्रहान
 देता है तो हैमलेट कहता है, यदि हर व्यक्ति के साथ 'उचित' व्यवहार
 किया जाय तो कौन है जो दण्ड से बच सके ? उसे जीवन की सार्थकता
 में ही गन्देह हो जाता है । मनुष्य मृत्यु को वरण करके दम मगार की

गिद्धि करना चाहता है किन्तु इसमें सफल नहीं हो पाता। तेडी मैकवेथ उमके मामने जो आदर्श रखती है, वह बहुत कुछ इसी जैसा है। मैकवेथ में उमका मानवीय अन्तःकरण बार-बार उसे डकन की हत्या से रोकता है और हत्या के बाद वह घोर पश्चात्ताप में पीड़ित होता है। उम मृत डंकन से ईर्ष्या होने लगती है कि वह जीवन की समस्त व्यथाओं से मुक्त होकर निश्चिन्त निद्रा का आनन्द ले रहा है। मैकवेथ शेक्सपियर के अन्य दुर्दान्त नाटकों के बीरो से काफी भिन्न है। वह अन्य बीरो की तरह निष्पाप नहीं है, वह अपराधी है, फिर भी उसकी नैतिक दुविधा और पश्चात्ताप उसकी ग्वायि और वेदना से उसके प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करता है। यहाँ वह नैतिक मूल्य स्पष्ट है जिसके लिए शेक्सपियर ने आकर्षण उत्पन्न किया है। मैकवेथ बीरो इसलिए नहीं है कि राज्य के लिए उमने एक रक्तसम्बन्धी की हत्या की है, बरन् इसलिए कि उसकी नैतिक भावना ने उसे बार-बार ऐसा करने में रोका और आगे चलकर उमके लिए नींद भी दुर्लभ कर दी।

मैकवेथ ने जैसे राज्य के लिए हत्या की, वैसे ही 'हैमलेट' में क्लौडियस ने राज्य के लिए अपने भाई की हत्या की। नाटक में राज्य प्राप्ति का उद्देश्य गौण है, मुख्य उद्देश्य भाई की पत्नी प्राप्त करना है। मैकवेथ की तरह स्वजन की हत्या से उसे भी पश्चात्ताप होता है किन्तु यह नाटक का मुख्य विषय नहीं है। मुख्य विषय हैमलेट के मन पर उसकी माता के व्यवहार की प्रतिक्रिया है। मानव-जीवन और मानव-सम्बन्धों से उसकी आस्था टूट जाती है और वह विक्षिप्त-सा हो जाता है। 'हैमलेट' मानव-सम्बन्धों और नैतिक मूल्यों पर एक विस्तृत टिप्पणी बन जाता है।

अपने पिता के प्रेत से जब हैमलेट को मालूम होता है कि उसकी हत्या की गई है तो एक ओर अपनी माँ को कोसता है, दूसरी ओर क्लौडियस को। क्लौडियस का व्यवहार देखकर वह यह निष्कर्ष निकालता है कि मनुष्य सदा मुस्कराता रहे, फिर भी वह महानीच हो सकता है।

जिस संसार में हैमनेट रहता है, उसमें पुराने नैतिक मूल्य टूट रहे हैं। शेक्सपियर के दुखान्त नाटकों का मूल मूल्य यही है। पुराने मूल्य गल्ट हो रहे हैं। किन्तु नये मूल्य दृढ़ता में उनका स्थान नहीं ले रहे। मैक्बेथ में पुराने सामन्ती की राजभक्ति नहीं है, नये जनतन्त्र की भावना उसमें जायज नहीं हुई। घोषेलो निर्दोष प्रेम की उत्कट अभिलाषा बनता है किन्तु यह स्वयं ईर्ष्या होकर अपनी पत्नी के विरुद्ध प्रयास में विश्वास कर लेता है। ह्यूटम अपने देश की निरबुज मला में मूक बनना चाहता है किन्तु उमरी आदर्शप्रियता अध्यावहारिक गिड़हानी है और उमरा मूल्य कारण हटम का चरित्र नहीं, जनता की अशिक्षा है। मार्च में १८४८ में अन्त्युदयशील पुंजीपति वर्ग के लिए लिखा था, "जहाँ भी पुंजीपति वर्ग विजयी हुआ है, उसने सभी सामन्ती, निम्नजात और दादापणी सम्बन्धों को खत्म कर दिया है। उसने निर्दयता में विविध सामन्ती सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया है जिसमें मनुष्य अपने से 'गलत श्रेष्ठ जनो' से बँधा हुआ था। मनुष्यों के बीच उसने नए स्वातंत्र्य, निर्मम 'आर्थिक लेनदेन' के अनिवार्य और बोर्ड सम्बन्ध नहीं रखा। उसने आर्थिक आदेश के स्वार्थ आनन्द को अन्त्युदयीन मान-सम्मान के उन्मूलन को तथा बोरी भावना को स्वातंत्र्य जनोत्थान की योजनाओं के नीचे जल में डुबो दिया है।" यह विचारित होता हुआ आधीन जल, पुरी लक्ष्य के समीप की चेतनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है।

शेक्सपियर के दिन अन्त्युदयीन सम्बन्धों को विफल करने वाले दो कुरार कारण हैं : प्रेम के बदले अनिर्दिष्ट और अस्वच्छ और दमन के बदले दम की प्रतिष्ठा। अन्त्युदयीन जल में अन्त्युदयीन बदलाव में लक्ष्य होकर यह दमन-व्यवस्था बनने है। यह देखने है कि मार्च दिनों के दमन सारे रहने की प्रतिष्ठा करने अन्त्युदयीन दमन को है। अन्त्युदयीन दमन में प्रतिष्ठा हो जाना है और "अन्त्युदयीन दमन के कारण दमन और दमन है।" ये दमन है दमन के अन्त्युदयीन में बदलाव करने है अन्त्युदयीन

स्वपापों में मुक्त क्यों न हो जाय ! मनुष्य अपने गमय की प्रशारणा क्यों गढ़े ? अत्यापारी का अन्त्याय, समस्त में भूने हुए पुरुषों की मृणा, मन्ने प्रेम का मृत्यु न पश्ये जाने की वेदना, स्यायशान्ति में बाधा, पराधितारियों की अनिष्टता, अयोग्य स्वगणों द्वारा धैर्यगानी घांघ्य स्थितियों का अपमान—यह सब बड़ क्यों गढ़े, यदि मृत्यु में मनुष्य का रास्ता के लिए शान्ति मिल गढ़े ? मृत्यु के बाद भी शान्ति न मिले तो मनुष्य क्या करेगा, मानो इन भय से हैमलेट आत्महत्या नहीं करना ।

‘हैमलेट’ साधारण प्रतिजोष की कथा नहीं है । उगरे लिए एक और बड़ी समस्या उठ खड़ी हुई है । यदि मानव-सम्बन्ध इनने गढ़िा है तो मनुष्य जीकर क्या करे ? मानव-जीवन की मार्गदर्शना क्या है ? हैमलेट के पात्र इन समस्या का समाधान नहीं है किन्तु उसकी शरणों और गन्नेह मानव-सम्बन्धों की जयजयता की तीव्र आलोचना है । वह आरम्भ ही में पहला है, “वह स्थूल शरीर प्रोम-कण की तरह विगलित हो जाय । ईश्वर ने आत्महत्या का निषेध न किया होता तो कितना अच्छा होना !” उसे सामारिक व्यवहार मिष्ठा, नीरस और निरपेक मालूम होता है । समार उग उछान की तरह है जिसमें जगली घागपात छा गये हैं । उसे सभी स्त्रियाँ चंचल और अस्थिर प्रेमवाली लगती हैं । उसके पिता की मृत्यु को एक महीना भी नहीं बीता कि उसकी माता ने क्लीडियम को घर लिया । पिता के प्रति हैमलेट की भक्ति माना के प्रति उसके हृदय को घृणा में भर देती है । उसे लगता है कि मनुष्य जब पतित होता है सब वह पशुओं को भी पीछे छोड़ देता है । पशु भी अपने प्रिय की मृत्यु के लिए उसकी माँ से अधिक शोक प्रकट करते । अपनी एक सानिट में शेनमपियर ने लिखा है, निली फूल जब सड़ते हैं तब उनकी दुर्गन्ध सड़ते हुए जगली घासपात से भी भयानक मालूम होती है । हैमलेट अपने माता-पिता से स्नेह करता था, उनकी बातों को सत्य मानता था । उसके स्नेह के स्रोत में विष धोल दिया गया है । मानव-सम्बन्धों से उसकी आत्मा उठ सी जाती है ।

जिग सप्ताह में हैमलेट रहता है, उगमें पुगने नैतिव मूय टूट रहे है । शेक्सपियर के दुःखान्त नाटको का मूल सूत्र यही है । पुराने मूल्य नष्ट हो रहे हैं किन्तु नये मूल्य दृढता से उनका स्थान नहीं ले रहे । ईश्वर के पुराने सामन्तो की राजभक्ति नहीं है, नये जननन्त्र की भावना उसमें जाग्रत नहीं हुई । घोषेलो निर्दोष प्रेम की उत्कट अभिलाषा करता है किन्तु वह स्वयं ईर्ष्यानु होकर अपनी पत्नी के विरुद्ध प्रवाद में विश्वास बर लेता है । जूटग अपने देश को निरकुश सत्ता से मुक्त करना चाहता है किन्तु उगकी आदर्शप्रियता अध्यावहारिक सिद्ध होती है और इसका मुख्य कारण कृदम का चर्चित नहीं, जनता की अधिक्षा है । मार्क्स ने १८४८ में अष्टयुद्धयोग पंजीरनि वर्ग के लिए लिखा था, "जहाँ भी पंजीर-पनि वर्ग विजयी हुआ है, उमने सभी सामन्ती, पित्रुसत्ताक और दादापयी सम्बन्धों को धूम बर दिया है । उमने निर्दयता से विविध सामन्ती सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न कर दिया है जिनसे मनुष्य अपने से 'महज श्रेष्ठ जनो' से बँधा हुआ था । मनुष्यों के बीच उमने नग्न स्वार्थ, निर्मम 'धार्मिक तेनदेन' के अनिरिक्त और कोई सम्बन्ध नहीं रखा । उसने धार्मिक आदेश के स्वर्गिक आनन्द को मध्ययुगीन मान-सम्मान के उत्साह को तथा कोरी भावुकता को स्वार्थमय धनोपाजन की योजनाओं के शीत जल में डुबो दिया है ।" यह विषटित होता हुआ प्राचीन जगत् पूरी तरह शेक्सपियर की रचनाओं में प्रतिबिम्बित हुआ है ।

शेक्सपियर के लिए मानव-सम्बन्धों को विपात करने वाले दो मुख्य कारण हैं : प्रेम के बढ़ने अनियन्त्रित भोगनिष्ठा और मनुष्यता के बढ़ने धन की प्रतिष्ठा । अपनी एक सन्निट में सामाजिक व्यवहारों से धुंध होकर वह मनुष्य-वागना करते हैं । वह देखते हैं कि लोग किसी के प्रति सच्चे रहने की प्रतिज्ञा बरके अपनी प्रतिज्ञा तोड़ देते हैं, निर्दोष प्रेम पाप में परिणत हो जाता है, और "अधिकारी वर्ग के कारण बना मौन हो जाती है ।" ये बातें हैमलेट ने नहीं, शेक्सपियर ने स्वयं कही हैं जो मानव-

मूल्यों के प्रति उनका दृष्टिकोण प्रकट करती हैं। हैमलेट की माता की भोगलिप्सा जघन्य रूप से उसके सामने आती है। “ऐण्टनी और क्लियोपाट्रा” में यीर ऐण्टनी एक चरित्रहीन सुन्दरी के पीछे अपना जीवन नष्ट कर देता है। मैकबेथ की तरह ऐण्टनी के पतन में भी उसके प्रति हमारी सहानुभूति रहती है, कारण यह कि ऐण्टनी में उसकी वीरता के कुछ भंश अत तक बने रहते हैं और वह अपने पतन के प्रति नितान्त अचेत नहीं रहता। हैमलेट को लगता है कि उसके पिता के मरण-संस्कार के लिए भोजन का जो प्रबन्ध किया गया था, वह उसकी माता के नये विवाह के लिए भी काम आया और इस तरह क्लौडियस ने किरायतशारी से काम लिया। इससे अनियन्त्रित भोगलिप्सा के प्रति हैमलेट की तीव्र घृणा प्रकट होती है। अपनी माता के व्यवहार के प्रति उसकी घृणा उसे निष्क्रिय बना देती है। क्लौडियस के लिए उसकी घृणा नगण्य है। पिता का प्रेत उसे प्रतिशोध के लिए सजग करता है किन्तु प्रतिशोध से क्या टूटे हुए मानव-मूल्य जुड़ जायेंगे? प्रतिशोध से हैमलेट की समस्या नहीं सुलभती; इसीलिए वह इतना निष्क्रिय दिखाई देता है। कुछ समय के लिए उसे ओफीलिया से भी विरक्ति हो जाती है। वह उसे अविवाहित जीवन बिताने के लिए कहता है क्योंकि विवाहित होने पर वह पापियों को ही जन्म देगी। वह अपनी माँ से कठोर शब्द कहता है और कारण पूछने पर बतलाता है कि उसकी माता ने वह कार्य किया है जिससे विवाह की शपथ जुआरियों की सौगन्ध से अधिक महत्त्व नहीं रखती।

हैमलेट क्लौडियस के धोखे पोलोनियस का वध कर डालता है। पोलोनियस का पुत्र विद्रोह की तैयारी करने लगता है। जनता उसे ‘लॉर्ड’ कहने लगती है और “मानो संसार का इतिहास अब आरम्भ हो रहा हो, प्राचीनता को लोग भूल गये हों, आचार-व्यवहार का ज्ञान ही न हो, पुरानी शपथें भुला दी गई हो, लोग चिल्लाते हैं, ‘हम निर्वाचन करते हैं, लामर्टीज राजा होगा।’ क्लौडियस रानी को समझाता है कि

राजा में देवी शक्ति है और सायर्टीज उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। यहाँ भी सामन्ती शपथें, राजा के देवी अधिकार मिटते दिखाई देते हैं। विन्नु शेक्सपियर को शोम इन विशेषाधिकारों के नाश के लिए नहीं है, शोम है सच्चाई, प्रेम और मनुष्यता के ह्रास पर। मुर्दे गाड़ने के स्थान पर हैमलेट अनेक ककालों को देखता हुआ राजनीतिज्ञों, दरबारियों, साँठों, बकीलों, भूमिन्नय करने वालों आदि पर ध्यय करता है।

हैमलेट की आस्था प्रायः टूट गई है, किन्तु पुरी तरह नहीं। घोरी-लिया के लिए उसके हृदय में प्रेम बराबर बना रहा। उसकी मृत्यु के बाद उसके भाई को चुनौती देते हुए वह कहता है “मैंने घोरी-लिया को प्यार किया है। तुम जैसे सहस्रों भाइयों का प्यार उमंगे होड़ नहीं कर सकता।” वह अपने पिता के गुणों पर भुग्ध है किन्तु पिता के मरने पर सगार गुणगून्य नहीं हो गया। उसे अपने मित्र हॉरेगिस्को में सच्चा स्नेह है। वह उसके मनुष्यत्व की सराहना करता है। जब हॉरेगिस्को विरोध करता है तो हैमलेट आवेश में कहता है, “यह मन ममाता कि मैं पाटुकारिता कर रहा हूँ .. बीड़ी-बीड़ी बातों में सोचों के खोखले वैभव को रिसावें और उनके सामने अपने घुटने टेकें जिनमें इक्ष्वाकु की आज्ञा है। गुनो ! जब मेरा विवेक जाग्रत था और मैं मनुष्यों में विभेद कर सकता था, मैंने तुम्हें बरण कर दिया था। मुझ उनमें में हो जो मर कुछ सहने हुए मानो कुछ नहीं सहने, जो धार्य का उन्नीड़न और बरदान समान भाव से दृष्टि करते हैं। वे मौभाग्यशाली हैं जिनमें भ्रमना और विवेक का ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य है कि निर्दिष्ट उन पर दर्शकता रख-कर मनचाहा राय नहीं छेड़ सकते। मुझे वह धार्मिक शिष्टाचार जो रण्डाओं का दास न हो और मैं उसे हृदय से मरवा कर मर्त्यता वीर में तुम्हें मराऊँ हूँ।” वह आदर्श धार्मिक महाकाव्यों के सिक्कर में बिड़ियु किया गया है। मनुष्यत्व में सेवर्गन्दर की आस्था बची नहीं दिती

यद्यपि अपने दूग के मानव-सम्बन्धो से उन्हें क्षोभ था। वह आस्था भारतीय मानवता की आस्था से मिलनी-जुलती है।

‘किंग लियर’ में मनुष्य की चरम अर्थलिप्सा और क्रूरता का चित्रण किया गया है। लियर की दो लड़कियाँ पिता के प्रति अपने सहज कर्तव्य भूल गई हैं। लियर ने उन्हें अपना राज्य दे दिया है किन्तु वे बहाना करके उसे अपने साथ रखने से इन्कार कर देती हैं। बूढ़ा लियर आँधी और वर्षा में निर्वासित मनुष्य जाति को कोसता हुआ घूमता है। ग्लोस्टर के लडके एडमंड ने अपने भाई और पिता के साथ ऐसा ही कृतघ्न व्यवहार किया है जिससे वे दर-दर भटकते हैं। दो कथाओं को एक साथ रखकर शेक्सपियर ने इस बात पर बल दिया है कि पारिवारिक सम्बन्धों का टूटना लियर के कुटुम्ब की विनाश घटना नहीं है; यह प्रक्रिया अनेक परिवारों में हो रही है। लियर राजा है; अपनी सबसे छोटी लड़की कोर्डिलिया को बहुत प्यार करता है। राजमद ने उसे भी हूषित कर दिया है जिससे वह चाटुकारिता और सच्चे स्नेह में भेद नहीं कर सकता। वह कोर्डिलिया को राज्य का अंश नहीं देता और अपने राज्चे मित्र और सेवक केन्ट को निर्वासित कर देता है। भाई-भाई के, पुत्र और पुत्रियाँ पिता के प्राण लेने पर तत्पर है। बूढ़े ग्लोस्टर की आँखें निकालकर पैरों तले कुचल दी जाती हैं क्योंकि वह लियर का सहायक है। दो बहनें अर्थलिप्सा के साथ कामलिप्सा के लिए परस्पर संपर्क करती हैं। उन्हें एक-दूसरे की विष देने में भी संकोच नहीं होता। एडमंड की क्रूरता से कोर्डिलिया को काँसी दे दी जाती है, वह उसे बचाना चाहता है तब जब बहुत विलम्ब हो चुका है।

“किंग लियर” में मनुष्य की स्वार्थपरता और कृतघ्नता का रोमांचकारी चित्र धींचा गया है। इसे पढ़ने और देखने में साधारण मनुष्य को इतना कष्ट होता है कि इंग्लैण्ड में यह सब से कम लोकप्रिय नाटकों में रहा है। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उसे मुखान्त नाटक बनाकर मीग

मंच पर प्रस्तुत करने रहे है। घंटने जैसे जानोचक ने भी उसके दुःखमय अन्त को बना घोर नाटकीयता के विरुद्ध माना है। शेक्सपियर ने जिस शूरता का चित्रण किया है, वह अर्थार्थ थी। रीगन, गोनरिल, एडमंड, कॉर्नेवान आदि नरपिशाच उमी श्रेणी के व्यक्ति है जिस श्रेणी के दशांगो घोर शाशनांक है। इस श्रेणी के व्यक्तियों ने इंग्लैंड और अन्य देशों में कौन से क्रूर कृत्य नहीं किये ? इसलिए शेक्सपियर ने जो कुछ चित्रित किया है, वह न तो अवधार्य है, घोर न कला घोर नाटकीयता के विरुद्ध है। आधुनिक जानोचको ने शेक्सपियर के बारे में एक प्रवाद फैला रक्खा है कि सामाजिक द्वंद्व से अधिक उसे मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व से दिलचस्पी थी। अन्तर्द्वन्द्व घोर बाह्य द्वंद्व के बीच कोई गहरी खाई नहीं है। हैमलेट में यह अन्तर्द्वन्द्व स्वयं अधिक उभर कर आया है। हैमलेट का शोभ, निष्क्रियता, श्रान्ति, आक्रोश—गभीर उसके चारों घोर विशुद्ध होते हुए मानव-माम्बन्धों से जुड़े हुए हैं। हैमलेट के अन्तर्द्वन्द्व का कारण सामाजिक द्वंद्व ही है। घोड़ेनों का अन्तर्द्वन्द्व बहुत सीमित है। जब तक उसे अपनी पत्नी पर सन्देह मान्य रहता है, वह अन्तर्द्वन्द्व से मुक्त रहता है। जहाँ उसे निश्चय हुआ, वह उसका नाश कर देता है। समाज के लिए विधातक शक्ति के रूप में दशांगो इतना उभर कर आता है कि उसकी बाह्य सत्ता को घोड़ेनों के अन्तर्द्वन्द्व में छिपाया नहीं जा सकता। निस्सन्देह घोड़ेनों स्वयं ईर्ष्यान्वु है जिसमें यही सिद्ध होता है कि घोरना के नागरिक जीवन का कानून एक सीमा तक घोड़ेनों का मानस भी विधात कर चुका है। मैकबेथ नाटको के 'वीर' की उस परिभाषा का उल्लेख करना है जिसके अनुसार वीर सत्पुरुष होता है, केवल किसी भाव या गुण के अति विकसित हो जाने से उसका व्यक्तित्व दोषपूर्ण हो जाता है घोर इस कारण वह कष्ट भोगता है। वे दशांगो, गोनरिल, रीगन और एडमंड की तरह अर्थवामी है। वह पाप करके सत्तावाध करता पादक है। अन्तर इतना है कि घोरों की तरह उसकी नीति

यद्यपि अपने युग के मानव-सम्बन्धों से उन्हें क्षोभ था। वह आस्था भारतीय मानवता की आस्था से मिलनी-जुलती है।

‘किंग लियर’ में मनुष्य की चरम अर्थलिप्सा और क्रूरता का चित्रण किया गया है। लियर की दो लड़कियाँ पिता के प्रति अपने सहज कर्तव्य भूल गई हैं। लियर ने उन्हें अपना राज्य दे दिया है किन्तु वे बहाना करके उसे अपने साथ रखने से इन्कार कर देती हैं। बूढ़ा लियर आधी रात घर्रा में निर्वासित मनुष्य जाति को कोसता हुआ घूमता है। ग्लोस्टर के सड़के एडमंड ने अपने भाई और पिता के साथ ऐसा ही कृतघ्न व्यवहार किया है जिससे वे दर-दर भटकते हैं। दो कथाओं को एक साथ रखकर शेक्सपियर ने इस बात पर बल दिया है कि पारिवारिक सम्बन्धों का टूटना लियर के कुटुम्ब की विशेष घटना नहीं है; यह प्रक्रिया अनेक परिवारों में हो रही है। लियर राजा है; अपनी सबसे छोटी लड़की कोर्डिलिया को बहुत प्यार करता है। राजमद ने उसे भी पित कर दिया है जिससे वह चाटुकारिता और सच्चे स्नेह में भेद नहीं कर सकता। वह कोर्डिलिया को राज्य का भ्रज नहीं देता और अपने सच्चे मित्र और सेवक केन्ट को निर्वासित कर देता है। भाई-भाई के, पुत्र और पुत्रियाँ पिता के प्राण लेने पर तत्पर हैं। बूढ़े ग्लोस्टर की आँखें नेकालकर पैरों तले कुचल दी जाती हैं क्योंकि वह लियर का सहायक है। दो बहनें अर्थलिप्सा के साथ कामलिप्सा के लिए परस्पर संघर्ष करती हैं। उन्हें एक-दूसरे को विष देने में भी संकोच नहीं होता। एडमंड ने क्रूरता से कोर्डिलिया को फाँसी दे दी जाती है; वह उसे बचाना चाहता है; तब जब बहुत विलम्ब हो चुका है।

“किंग लियर” में मनुष्य की स्वार्थपरता और कृतघ्नता का रोमांचकारी चित्र खींचा गया है। इसे पढ़ने और देखने में साधारण मनुष्य में इतना कष्ट होता है कि इंग्लैण्ड में यह सब में कम लोकप्रिय नाटकों में रहा है। लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक उसे सुखान्त नाटक बनाकर सोया

मंच पर प्रस्तुत करते रहे हैं। बेंडले जैसे आलोचक ने भी उसके दुःखमय
 अन्त को कला घोर नाटकीयता के विमूढ माना है। शेक्सपियर ने जिता
 क्रूरता का चित्रण किया है, वह यथायं थी। रोगन, गॉनरिल, एडमंड,
 कॉर्नेलियस आदि नरपिशाच उसी श्रेणी के व्यक्ति हैं जिन्हीं श्रेणी के दुरागा
 घोर शास्त्रों के हैं। इस श्रेणी के व्यक्तियों ने इंग्लैण्ड घोर अन्ध देगा।
 जीवन से क्रूर दृश्य नहीं किये? इसलिए शेक्सपियर ने जो कुछ चित्रित
 किया है, वह न तो अयथायं है, घोर न कला घोर नाटकीयता के विमूढ
 है। आधुनिक आलोचकों ने शेक्सपियर के बारे में एक प्रवाद फैला रखा
 है कि सामाजिक दृष्टि से अधिक उसे मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व से दिलचस्पी थी।
 अन्तर्द्वन्द्व घोर बाह्य दृष्टि से बीच कोई गहरी धार नहीं है।
 हैमलेट में यह अन्तर्द्वन्द्व सबसे अधिक उभर कर आया है। हैमलेट का
 शोक, निष्प्रियता, स्वार्थ, आक्रोश—सभी उसके चारों घोर शिथिल
 होने हुए मानव-सम्बन्धों से जुड़े हुए हैं। हैमलेट के अन्तर्द्वन्द्व का कारण
 सामाजिक दृष्टि ही है। ओपेलो का अन्तर्द्वन्द्व बहुत सीमित है। जब तक
 उसे अपनी पत्नी पर गन्धर्व मान रहता है, वह अन्तर्द्वन्द्व में श्रुतमान
 रहता है। जहाँ उसे निश्चय हुआ, वह उसका नाश कर देता है। समाज
 के लिए विषाक्त शक्ति के रूप में दुरागो बनता उभर कर आता है कि
 उसकी बाह्य मत्ता को ओपेलो के अन्तर्द्वन्द्व में छिपाया नहीं जा सकता।
 निस्सन्देह ओपेलो स्वयं ईर्ष्या है जिसमें यही मिश्र होता है कि जीवन
 के नागरिक जीवन का कथन एक सीमा तक ओपेलो का मानस भी विषाक्त
 कर चुका है। ईर्ष्या नाटकों के 'घोर' को उस परिभाषा का उदाहरण
 करता है जिसके अनुसार घोर मनुष्य होता है, जिसने किसी अन्य का
 हृदय के प्रति विषमिर्ष हो जाने से उसका अन्तर्द्वन्द्व दोनो
 हो जाता है घोर इस कारण वह बड़ा ओपेलो है। वे दुरागा, दारिद्र्य
 जीवन घोर एडमंड की तरह अर्धवर्णनी है। वह एक तरह का अन्तर्द्वन्द्व
 करता रहता है। अन्तर दृष्टि है कि ओपेलो की तरह रहने के लिए

भावना पूरी तरह नष्ट नहीं हो गई। उसके चरित्र का सौन्दर्य इस नैतिक भावना के जीवित रहने और उसके लिए संघर्ष करने में है। मैकबेथ में शोभ है, पश्चात्ताप है, ग्लानि है किन्तु अन्तर्द्वन्द्व मुख्यतः डकन की मृत्यु के पहले और छोटे समय के लिए ही है।

‘किंग लियर’ में इस तरह के अन्तर्द्वन्द्व का प्रायः अभाव है। लियर ने कॉर्डेलिया के साथ अन्याय किया है। यह स्मृति उसे पीड़ित करती रहती है। कॉर्डेलिया के प्रति लियर के व्यवहार का कारण वह घाटु-कारिता का वातावरण है जिसमें लियर का सारा जीवन बीता है। इस प्रकार लियर का अन्याय एक विशद सामाजिक अन्याय का ही अंग है; लियर का अन्तर्द्वन्द्व समाज के बाह्य द्वन्द्व का ही एक अंग है।

शेक्सपियर के वीर पात्रों के बारे में प्रचलित ध्योरी यह है कि वे उच्च वैश के, राजा, सामन्त, विशिष्ट नागरिक आदि होते हैं; उनका पतन मानो व्यक्ति का पतन न होकर किसी राज्य या समाज का पतन होता है। यह ध्योरी ऊपर से देखने में सही है। शेक्सपियर के वीर पात्र अभिजात वर्ग के हैं किन्तु नाटक की विशेषता यह होती है कि वे अपनी साधारण मनुष्यता के प्रति बहुत सजग रहते हैं। मैकबेथ ‘महत्वाकांक्षी सामन्त’ है; उसके अपराध एक स्वार्थी सामन्त के हैं। इसलिए वह अभिजात वर्ग का हो तो कोई दोष नहीं। किन्तु ‘मैकबेथ’ में भी यह स्पष्ट है कि उसके भीतर जो नैतिकता जागती और संघर्ष करती है, वह सामन्त वर्ग की नहीं, साधारण जनो की नैतिकता है। कम-से-कम यह नैतिकता ऐसी है जो सभी के लिए काम्य है। ओथेलो ने वेनिस के गौराङ्ग समाज में अपनी वीरता और गुणों के बल पर प्रतिष्ठा पाई है, कुलीनता से उसकी प्रतिष्ठा का कोई सम्बन्ध नहीं है। शेक्सपियर के समाज में कुलीनता का पयेष्ट महत्त्व था और आज के इंग्लैंड में भी बहुत कुछ है। शेक्सपियर ने अपनी एक सॉनेट में उन लोगों का उल्लेख किया है जिन्हें अपनी कुलीनता, सम्पत्ति आदि पर गर्व है। अपनी प्रेयसी को

मम्बोधन करके उन्होंने लिखा है, "तुम्हारा प्रेम मेरे लिए कुलीनता से बढ़कर है।" योराङ्ग युवको को छोड़कर डेस्डिमोना ने भी घोथेलो के लिए इसी प्रेम का परिचय दिया था। अभिजात वर्ग की कुलीनता नहीं, मनुष्यता; सम्पत्ति का गर्व नहीं, मानवीय करुणा—नैतिक मूल्यों के प्रति शेक्सपियर का यह दृष्टिकोण है।

आँधी घोर वर्षा की मार सहता हुआ लियर अपनी बेटियों की वृत्तमत्ता भूल जाना चाहता है। उसे इतना क्षोभ होता है कि वह प्रकृति और मनुष्य दोनों के नष्ट हो जाने की कामना करता है। शेक्सपियर के लिए मनुष्य की वृत्तमत्ता उसकी सबसे बड़ी अनैतिकता है। "एज यू लाइव इट" के एक प्रसिद्ध गीत में शीतवायु को मनुष्य की वृत्तमत्ता से कम दुःखद कहा गया है। 'टाइमन ऑफ एग्योस' में टाइमन अतिशय उदारता से अपने मित्रों के लिए अपना धन खर्च करता है किन्तु सम्पत्ति स्वाहा हो जाने पर जब महाजन तकाजे करते हैं तब उसके मित्रों में एक भी उसका साथ नहीं देता। मनुष्य धन का दास बन गया है, निर्धन टाइमन इस मत्स्य को दुग्ध होकर बार-बार दोहराता है। टाइमन के मित्रों में अधिक भयानक लियर की पुत्रियों की वृत्तमत्ता है क्योंकि वे उसकी पुत्रियाँ हैं। फिर भी अपने दुःख में लियर अपने विदूषकका दुःख नहीं भूलता, तूफान से बचने के लिए वह एक झोपड़ी में शरण लेने को तैयार हो जाता है। उस समय उसे सत्तार के दुखी गरीबों की याद आती है। वह कहता है, "नगे-भूखे गरीबों ! जहाँ भी तुम इस निर्दय तूफान की मार सहते हो, तुम्हारे भूखे अरीर और पटे नपटे घर के बिना ऐसी ऋतु में कैसे तुम्हारी रक्षा करते होंगे ? आह, मैंने इस घोर बहान ही कम ध्यान दिया है ! धनवानों, अपना उपचार करो ! जो वे दुःखी अनुभव करते हैं, उसे तुम भी अनुभव करो जिससे अपनी अनिश्चित सम्पदा तुम इन्हें दे दो और ईश्वर अधिक न्यायपूर्ण सिद्ध हो।" लियर में यह अनु-

भूति सब-कुछ छोड़कर जाग्रत होनी है जब वह माधारण मनुष्य के सिवा और कुछ नहीं रह जाता ।

शॉपडो में ग्लोस्टर का निर्वासित पुत्र एड्गर छिपा हुआ है जो एक दुर्खी विक्षिप्त भिग्यारी का जीवन बिता रहा है । उसके पास एक कम्बल छोड़कर और कुछ नहीं है । वह अस्वास्थ्य ग्रस्ता हुआ जगह-जगह से प्रताड़ित माग-मारा घूमता है । तियर उसे देखकर पहचानता है कि कुल-गम्पदाहीन नग्न मनुष्यता क्या होती है । उसे अपना जीवन कृत्रिम लगता है और आवेग में वह अपने वस्त्र उतारने लगता है । तियर आगे चलकर वगंपुक्त समाज की न्याय-व्यवस्था की टीका करता है । “पाप को सोने में मढ़ दो और न्याय का अस्त्र उसमें टकराकर चूर हो जायगा । उसे बीथडो में लपेट दो और तिनके से भी वह टूट जायगा ।” यह पूँजीवादी समाज का अभ्युदयकाल था जिस पर शेक्सपियर की यह तीव्री टिप्पणी अनेक पाश्चात्य आलोचकों के गले से नीचे नहीं उतरती, तियर अपने वर्ग में विजग होकर यह मानवीय कृपा प्राप्त करती है । वह बन्दीगृह में कॉर्डेलिया के साथ शान्ति में अन्तिम जीवन बिता देना चाहता है किन्तु नर-राक्षस उमकी यह साध भी पूरी नहीं होने देते ।

दुखान्त नाटकों के लिए कहा जाता है कि उनमें पाठकों में भय और दया के भाव जाग्रत होने हैं । भय कम, दया अधिक, और दया के माध्यम से और धीरे-धीरे के लिए सम्मान का भास भी दुखान्त नाटकों की विशेषता है । दुखान्त नाटक या ट्रेजेडी दुःख की ही कथा नहीं है; वह दुःख से मनुष्य के मर्त्य की कथा भी है । दुःख सहते हुए मनुष्य अपनी धीरता-वीरता आदि गुणों का परिचय देता है । अन्याय और वृत्ता के प्रति जनता का रोष जाग्रत होता है, अन्त में अन्याय विजयी नहीं होता, अन्यायी को अपने किये का फल मिल जाता है । तियर स्वयं कॉर्डेलिया को पाली देने वाले का वध करता है । वह बुद्ध है, शारीरिक और मानसिक रूप से टूट चुका है । फिर भी अन्तिम दार गारी शक्ति

लगाकर कार्डिलिया के अधिक को दण्ड देकर मानो उसके प्रति अपने पूर्व अन्याय का प्रतिकार कर डालता है। कॉर्नवाल बूढ़े ग्लॉस्टर की आँखें निवालता है। उस समय एक साधारण सेवक से नहीं रहा जाता, वह तलवार निकालकर अपने 'स्वामी' के विरोध में खड़ा हो जाता है। यद्यपि वह मारा जाता है, फिर भी कॉर्नवाल को इतना घायल कर जाता है कि उमका भी प्राणान्त हो जाय। अर्सेलाभ की आशा से बूढ़े और अन्य ग्लॉस्टर के प्राण लेने के लिए जब आस्वाल्ड बढ़ता है, तब उसकी तलवार की परवाह न करके किसान के बेश में एडगर अपने डंडे से उमका मिर तोड़ देता है। अन्यायी को दण्ड मिले—नि सन्देह शेक्सपियर का विवेक इससे प्रसन्न होता है। उनके नाटक निष्प्रिय सहनशीलता की आकर्षक बनाकर चित्रित नहीं करते। शेक्सपियर को कन्ना का खेत उनकी प्रगाढ़ माननीय सहानुभूति है जो उन्हें अपने समकालीन भारतीय कवि तुलसीदास के निकट लाती है। दोनों के साहित्यिक उपकरण भिन्न हैं किन्तु हृदय की घटकन दोनों की मिलती-जुलती है।

श्रीडले ने मनुष्य-जानि पर लियर के आक्रोश का विवेचन करते हुए लिखा है, "किन्तु 'टाइमन' की तरह यहाँ भी गरीब और साधारण जन, प्रायः बिना किसी अपवाद के, हृदय के सच्चे और सरल हैं, दयावान और बपादार हैं।" जो लोग समझते हैं कि शेक्सपियर के लिए सभी मनुष्य समान थे, वे श्रीडले के इस वाक्य पर गम्भीरता से विचार करें। इसी के साथ एक टिप्पणी में इस श्रेयरेज आलोचक ने लिखा है, "इस विषय में शेक्सपियर के भाग, उनके जीवन के इस भाग में, विशेष तीव्र रहे हैं किन्तु वे आजीवन बहुत कुछ एकसे रहे हैं। (तुलना कीजिये "एज यू सादर इट" में प्रेंटम)। राजनीतिज्ञों के रूप में साधारण जनों के लिए शेक्सपियर के पास सम्मान नहीं है किन्तु उनके हृदय के लिए महान् श्रद्धा है।" शेक्सपियर का सामाजिक दृष्टिकोण अभिज्ञान वर्ग का नहीं है; वह दृष्टिकोण ऐबन नदी के किनारे स्ट्रीटफोर्ड के साधारण जनों का है जिनमें

शेक्सपियर का जन्म हुआ था। यह सामाजिक दृष्टिकोण जो निर्धन और निम्नजनों के प्रति इतना उदार है, शेक्सपियर की कला के लिए महत्त्वहीन नहीं है। इसी के आधार पर शेक्सपियर ने उस भोगलिप्सा और अर्थलिप्सा के प्रति घृणा प्रकट की है जो यूरोप की अभ्युदयशील पूंजीवादी संस्कृति की एक विशेषता थी। इसी के आधार पर उसने मनुष्य के सचाई, वीरता, धीरता, न्यायप्रियता आदि के लिए उसके संघर्ष के अद्भुत चित्र खींचे हैं। शेक्सपियर की कलात्मक तटस्थता आलोचकों की मनगढ़न्त कहानी है। वह मानव-मूल्यों के संघर्ष में तटस्थ नहीं हैं बरन् सक्रिय रूप से हमारी करुणा या आक्राश जाग्रत करते हैं। शेक्सपियर की यह विवेकशील करुणा उन्हें विश्वकलाकार बनाती है।

शेक्सपियर की तटस्थता-साम्बन्धी धारणा का खण्डन करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—

“टंडन के अनुसार शेक्सपियर को दृष्टि की निरपेक्षता के उदाहरणों में हैमलेट का चरित्र-चित्रण है। पर विचारपूर्वक देखा जाय तो हैमलेट की मनोवृत्ति भी ऐसे व्यक्ति की मनोवृत्ति है जो अपनी माता का घोर विश्वासघात और जघन्य शीलच्युति देख अर्द्धविक्षिप्त-सा हो गया हो। परिस्थिति के साथ उसकी बुद्धि का असामञ्जस्य उसकी बुद्धि अव्यवस्था का द्योतक है। अतः उसका चरित्र भी एक वर्ग विशेष के चरित्र के भीतर आ जाता है। उसके बहुत से भावणों को प्रत्येक सहृदय व्यक्ति अपनाता है। उदाहरण के लिए आरम-ग्लानि और क्षोभ से भरे हुए वे वचन जिनके द्वारा वह स्त्री-जाति की भर्त्सना करता है। अतः हमारे देखने में ऐसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन, जो किसी दशा में किसी की हो ही नहीं सकती, केवल ऊपरी मनबहलाव के लिए खड़ा किया हुआ कृत्रिम

ही होगा। पर टंडन साहब के अनुसार ऐसी मनोवृत्ति का चित्रण सृष्टिकारिणी कल्पना का सबसे उज्ज्वल उदाहरण होगा।”

शेक्सपीयर की विश्वजनीनता का यही कारण है कि वह निरपेक्ष रहकर बाल्यता-बीजल नहीं दिखाने बरन् उन मूल्यों के प्रति हमारी सहानुभूति जाग्रत करते हैं जिनके बिना मनुष्य अपना मनुष्योचित जीवन पा नहीं सकता।

कहने का कहना है कि शेक्सपीयर में हमें ऐसे मगर का दर्शन होने हैं जो पूर्णता की ओर बढ़ रहा है। उसमें पुण्य के साथ पाप भी उत्पन्न होता है। यह पाप आत्मपीडन और आत्मशय द्वारा ही निर्मल होता है। यह साथ ही ईश्वरी है।

आत्मपीडन और आत्मशय ही क्यों ? प्रत्येक नाटक का हीरो तो पापात्मा नहीं है। हैमलेट के आत्मपीडन का कारण उसका अपना कोई पाप नहीं है। पाप का नाश होता है, चाहे वह हीरो में हो चाहे उसके प्रतिद्वन्द्वियों में। न्याय हीरो के प्रतिद्वन्द्वियों की ओर भी हो सकता है जैसे 'मैकबेथ' में। पाप का आधार मूलतः मनुष्य के सामाजिक सम्बन्ध है जिनमें वह अनियन्त्रित भोगनिष्ठा और अस्पृशिता की ओर बढ़ता है। कहने के लिए बाह्य दुष्ट शील है, ईश्वर और सैतान मनुष्य के हृदय में ही गपड़ बिठा करते हैं। यह शेक्सपीयर का ईसाई धर्म का चामा लगाकर देखना है। साथ ही कहने में पाप के लिए मनुष्य को—उसके सम्बन्धों को—दोषी न ठहरा कर किसी बाह्य-शक्ति को दोषी ठहराया है। शेक्सपीयर के पास अन्तरात्मा में गपड़ करने की ओर जो शक्ति उनके माध्यम में बहने लगती है वह उन्हें ऐसी योजना का सपना बनती है जो उनकी नहीं है।" इस तरह मनुष्य का अन्तर्द्वन्द्व भी निरपेक्ष हो जाता है। क्योंकि वह किसी मानविक योजना की पूर्णतया शील है। इसलिये 'विश्व विचार' में कहने के लिए मनुष्य का दुष्ट एवं अशुभ हृदय बन जाता है ! या जो शेक्सपीयर पर निरपेक्षता आरोपित करना है जिसका अर्थ है कहने में बढ़ने बिना है। यदि शेक्स

विद्वान् मनुष्य मनुष्य माने कभी के लिए उलझती है, कभी बतों में खाना है, उसका अर्थ है उसके कभी का अर्थ है जो किसी प्रकार की मोहना का प्रयत्न नहीं करता। मेरुगिरि के मातृ मनुष्य के गोविन्द जीवन की भाषा है।

मेरुगिरि ने सुनारी गाठों की परम्परा में बहुत कुछ कहा। उसे उन्होंने अपने देश की मोर मनुष्य के मन्त्रों में जोड़ा। अपने मन में मानव-मनुष्य का विषय होने देखकर—अपना मन और मन के लिए अनेक बतों में बिट्टी जिस मनुष्य का हाथ देखकर—मेरुगिरि ने अपने मतानुसार मनुष्य माने।—ये मातृ हमारी कथा को फिर प्यार और प्रभाव करने हैं। क्या और भय के भावों के अतिरिक्त के अन्धकार और कर्मों के प्रति जोर और धीरता-धीरता आदि सुनो के लिए सम्मान-भाषना भी प्राप्ति करने हैं। मेरुगिरि मनुष्य के जीवन में सत्य न होकर विश्वनीय मनुष्य का पक्ष लेने हैं। उनके गाठों में मानव-मनुष्य पर भी गूढ़ बन है; हीरो का अन्तर्गत ही सब कुछ नहीं है। इस प्रकार मेरुगिरि मनुष्य के जीवन विभाग का एक भाषन है। मेरुगिरि को जो मानव-मनुष्य जिस थे, उनका महान् भाव भी बन गयी हुआ।

